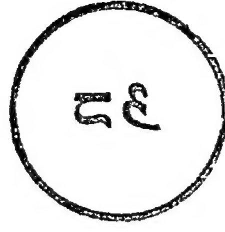


मुक्ति-मंदिर

संपादक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
(सुधा-संपादक)

गंगा-पुस्तकमाला का नवासीवाँ पुष्प

मुक्ति-मंदिर

लेखक

साधु टी० एल० वास्वानी

अनुवादकर्ता

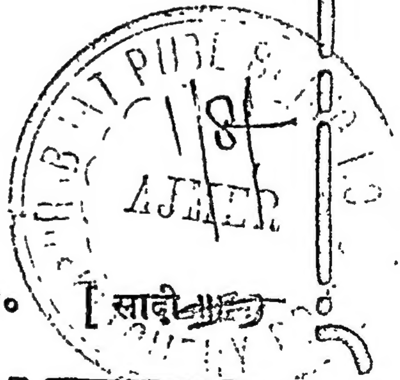
प्रोफ़ेसर बेनीमाधव अग्रवाल

प्रकाशक

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय

२९-३०, अमीनाबाद-पार्क

लखनऊ



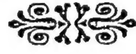
प्रथमावृत्ति

सजिल्द] सं० १९८५ वि० [सादी

57

1928

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ



मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

समर्पण

राष्ट्र के नवयुवकों को

यह पुस्तक

सप्रेम समर्पित है।

टी० एल्० वास्वानी

मेरा उपास्य ईश्वरीय आश्चर्य

हे नाथ ! मेरे नेत्रों को आप कैसे-कैसे चित्र दिखलाते हैं ? मैं
आपका चमत्कार प्रत्येक जाति व धर्म में देखता हूँ। इस
समरमय संसार में, कलहप्रिय अथवा दुःखित जनों के
घरों में,
जन-समूह के कोलाहल के बीच---सर्वत्र मैं आपके
चमत्कार को पूजता हूँ।
निर्बल अथवा सबल जातियों की गहरी अशांति में, उन
मनुष्यों के पातकों में, जो अनित्य माया के
वशीभूत हो
अंत में उसे धूलि और भस्म ही पाते हैं—सब कहीं हे प्रभो !
आपके विचित्र चमत्कार का आलोक मुझे दीखता है,
और हे भगवन्! इसी अद्भुत दृश्य ने आपकी
कृपा से मुझे शोकाकुल और
सबल बना दिया है।

—टी० एल्० वास्वानी

पूर्वाभास

इस ग्रंथ में उन व्याख्यानों का संग्रह किया गया है, जो मैंने अखिल-भारतवर्षीय आर्य-स्वराज्य-सभा के तीसरे अधिवेशन में सभापति की हैसियत से दिए थे। उपर्युक्त अधिवेशन कानपूर में सन् १९२५ ईस्वी के राष्ट्रीय सप्ताह में (ता० २४ से ३० दिसंबर तक) हुआ था।

इन भाषणों में विवरण और आह्वान, दोनों हैं—विवरण है शक्ति के संदेश का, आह्वान है देश के नवयुवकों का। भारत को अपनी वर्तमान दीन अवस्था में शक्ति के संदेश की करुण आवश्यकता है। इस संदेश का अर्थ है नवीन आत्मविश्वास, भारत के उज्ज्वल भविष्य में नई आशा, सभ्यता का उद्धार करने के हेतु प्राचीन आदर्श तथा उसकी गूढ़ शक्तियों का नूतन ज्ञान, वर्तमान संसार की दो मार्मिक बातों—विज्ञान और प्रजातंत्र—की अभिनव शिक्षा आरोग्यता के लिये महाप्रयत्न, मानव-शरीर को आत्मा का वाहन, श्रीकृष्णमंदिर मानकर उसके लिये विशेष आदर, ईश्वर की दीन-बंधु के रूप में नवीन विधि से पूजा।

विस्तार-भय से मैंने अपने भाषण के "एकता की समस्या" और "शिक्षा का प्रश्न"-शीर्षक दो मुख्य भागों को प्रकाशित

नहीं किया। संभव है, भविष्य में इन्हें प्रकाशित कर सकूँ ❀। फिर भी एकता और शिक्षा की समस्या पर मैंने अपने विचार प्रस्तुत तथा अन्य पुस्तकों में संक्षेप में प्रकट किए हैं। हाय! आपस की फूट और कलह के कारण भारत सदियों से दुःख और अपमान सह रहा है। योरप में समता की वासना का आधिपत्य है, भारत में भेद और अनैक्य प्रधान हैं। वहाँ अनुदार राष्ट्रीयता है, यहाँ जातियों और संप्रदायों के आपसी झगड़ों की भरमार। जब मैं योरप में पर्यटन कर रहा था, तब मैंने देखा कि यदि किसी योरपवासी से यह प्रश्न किया जाता कि तुम कौन हो, तो वह उत्तर देता था कि मैं अँगरेज़ हूँ, अथवा फ़्रांसीसी व जर्मन हूँ, किसी ने भी यह उत्तर कदापि नहीं दिया कि मैं रोमन कैथोलिक या प्रोटेस्टेंट हूँ। किंतु भारत में मैंने लोगों को अपनी जाति, मज़हब व संप्रदाय ही बतलाते पाया।

भारत के लिये यह कितने दुःख और शोक का विषय है। एक प्राचीन गुणसंपन्न राष्ट्र आज फूट और दासता के बंधन में पड़ा हुआ है, भारतवर्ष स्वयं भारतवासियों के ही झगड़ों और वैमनस्य से पीड़ित है। वह पुण्यभूमि जहाँ के ऋषियों ने

❀ साधुजी के शिक्षा-संबंधी दो लेखों का अनुवाद हमने इस पुस्तक के दो परिच्छेदों में दिया है।—अनुवादक

अखिल विश्व की एकता के आभास में अपना जीवन व्यतीत किया था, आज अनंत वैमनस्य की खानि बनी हुई है।

मेरा विश्वास है कि यह विषमता सूचना-रूप है—जातीय रोग की लक्षण-मात्र है, कारण-रूप नहीं। अनैक्य से बोध होता है, जीवन के अपसरण का जीवन-स्रोत के परावर्तन का। जब किसी देश का जीवन सबल और सचेतन रहता है, तब वह अपने को कलह और वैमनस्य के विभागों में विभाजित नहीं होने देता।

भारत का शक्ति-रूप में नवजीवन होना अति आवश्यक है। इसके लिये आवश्यकता है नवीन शिक्षा की। हमारे विद्यालय और महाविद्यालय अंध-कारागार ही हैं। उनमें भारतीय आदर्श और संस्कृति की किरणें प्रवेश नहीं कर पातीं। आर्वाचीन भारत की बुद्धि का उस प्रबल आत्मा से पृथक्करण, जिसने प्राचीनकाल में आर्यावर्त को आदर्श-देश बनाया था, हमारी शोचनीय दुर्दशा का प्रधान कारण है।

इस छोटी-सी पुस्तक को लिखते हुए मैं आशा करता हूँ कि देश के नवयुवक मेरे हृदय-स्थित स्वप्न की पुकार को सुनेंगे। यह पुकार है भोग और स्वार्थ को ठुकराकर माता की एकांत सेवा में तत्पर हो जाने की। यह स्वप्न माया-मिथ्या नहीं है, प्रत्युत इसी में सारमय, सात्विक जीवन के दर्शन होते हैं।

टी० एल्० वास्वानी

मुक्ति-मंदिर

मरुभूमि और जलनिधि से एक ध्वनि

मित्रो !

आपने मुझे सभापति के आसन के लिये मनोनीत कर एक ऐसा आदर प्रदान किया है, जिसके योग्य मैं नहीं हूँ। मुझमें राजनीतिज्ञों-जैसी चातुरी नहीं है, मैं कलह-प्रिय नहीं हूँ—यह मेरे स्वभाव से दूर है। योरप के एक महापुरुष मुसोलिनी ने राजनीति की उपयुक्त व्याख्या की है। वह कहता है कि राजनीति उस विद्या का नाम है, जिससे मनुष्य की आकांक्षा, वासना तथा हितों का जनसाधारण की भलाई के लिये उपयोग किया जा सके और जिसमें इसी उद्देश्य से इनकी वृद्धि की जावे। मैं राजनीतिज्ञ की हैसियत से नहीं, बरन् भारतीय आदर्श के एक नम्र सेवक की हैसितय से आपके स्नेहार्द्र निमंत्रण को स्वीकार कर आपके सम्मुख खड़ा हूँ। जीवन के प्रभातकाल से ही परमात्मा ने मेरा हृदय नवयुवकों से संबद्ध कर दिया है। आप नवयुवक हैं, माता की सेवा करने के लिये आप

उत्सुक हैं। मैं प्रेम, निष्ठा और प्रार्थना के भाव लेकर आपके पास उपस्थित हूँ। आप ही के एक बंधु की भाँति, माता की अनन्य सेवा में आपके एक सहचर के समान, मैं यहाँ उपस्थित हूँ।

निर्जन एकांत में मैंने अपनी पूजनीया आराध्यदेवी भारतमाता से साक्षात् किया है। कोलाहल और व्याकुलता के अंतरतम प्रदेश में भी मेरे दुःखित हृदय ने यह ध्वनि सुनी है—"अब स्वाधीनता का दिवस दूर नहीं है।" मैंने सरल और दीन मनुष्यों से बातचीत की और उनके नेत्रों को एक अभूतपूर्व ज्योति से प्रकाशित पाया। उस समय मुझे यह प्रतीत हुआ कि आर्यावर्त के ऋषि-महर्षियों और देशभक्तों का प्रयत्न निष्फल नहीं गया। कभी-कभी एक विचित्र भाव मेरे हृदय पर अधिकार जमा लेता है, और मैं अपने आपसे कहने लगता हूँ—"वास्तव में भारतभूमि पुण्य पवित्र भूमि है, क्योंकि अब तक भी वह अपने प्रतिभाशाली महर्षियों की शरण में सुरक्षित है। उनका ज्वलंत तेज हमारे चारों ओर प्रकाशमान है; किंतु हम उसे देख नहीं पाते।"

मित्रो! मैं एक फ़क़ीर हूँ और तुम्हें मरुभूमि तथा जल-निधि का संदेश सुनाने आया हूँ। कई वर्ष पहले एक अँगरेज़

मित्र ने लंडन की जनता को मेरा परिचय देते हुए सिंध को मरुस्थल कहा था। क्या मरुस्थल के पास कोई संदेश नहीं है? शोरा (Nitrate of Soda) के सदृश्य शायद ही कोई वस्तु व्यापार की उन्नति में काम आती हो; किंतु यह वस्तु चिलीदेश (दक्षिण अमेरिका का एक मुख्य प्रांत) की मरुभूमि में ही पाई जाती है। उस मरुप्रांत में कोई पैदावार नहीं होती। वह भूमि बंध्या है, किंतु वहीं पर यह उपयोगी चीज़ बेहिसाब पाई जाती है। सिंध भी एक मरुस्थल है, किंतु वहाँ भी एक महान् फलप्रद वस्तु के—एक रहस्यमय आलोक के—दर्शन होते हैं। यह आलोक है अनेक में एकता का, एकता में विभिन्नता का। इसी उदार आलोक की ध्वनि सिंधी कविता में गूँजती है। मेरा नम्र निवेदन है कि सिंध के कवियों और सिद्ध महात्माओं का यही गहन आलोक राष्ट्रीय जीवन को सचेतन बनाने के लिये आवश्यक है। सिंधु नदी के तीर पर हमारे पूर्वजों ने बड़े-बड़े आश्रम बनाए थे। वहाँ उन्होंने विश्व के अनंत रहस्य का ध्यान किया था, और वैदिक मंत्रों की रचना की थी। उनमें से एक मंत्र इस प्रकार है—

"वह आकाश और पृथिवी में, सर्वत्र व्याप्त है। वह सर्वदर्शी है। उसने सत्य के सूत्र से संसार को बनाया है।"

"सत्य का सूत्र!" कितनी उदार कल्पना है। संसार के चमत्कारों को परमात्मा ने इसी सत्य के सूत्र से रचा है। इसी सत्य को राष्ट्र का सूत्रधार और हिंदू-समाज का उद्धारक बनाओ और तुम एक बार फिर भारतवर्ष और हिंदू-जाति को प्रतापशाली बना सकोगे। यही है मरुभूमि की पुकार, जो इन कठिन दिनों में बार-बार मुझे कर्णगोचर हुई है।

अपने वतन के समुद्रतट पर मैंने लहरों को उठते और टकराते देखा। मैंने अपने आपसे कहा—"क्या ये लहरें भारत के चिरकालव्यापी इतिहास में उठनेवाली शक्ति की लहरों की प्रतिरूप नहीं हैं? सिकंदर* आया और लौट गया, उस समय भारत सबल राष्ट्र था। मौर्य-सम्राट् चंद्रगुप्त † ग्रीस

---

* प्राचीन यूनान का दिग्विजयी वीर और मेसिडोन का राजा था। इसने सन् इसवी से ३२७ वर्ष पूर्व भारत पर आक्रमण किया और ३२५ में लौट गया। सिकंदर पंजाब से आगे नहीं बढ़ सका।

† इन्होंने ईसा से पूर्व (३२१-२९७ तक) भारत पर राज्य किया। जो-जो भारतीय प्रांत सिकंदर ने (३२७-२५ में) जीते थे, उसे इन्होंने ३२२-२१ में अपने अधिकार में कर लिया। जब सुविख्यात यूनानी सेनापति राजा सेल्यूकस ने इन प्रांतों को जीतने का (३०५ में) प्रयत्न किया, तब चंद्रगुप्त ने उसे पूरी तौर से पराजित किया।

वासियों से कहीं अधिक बलवान् थे। शताब्दियों के अनंतर जब अरब के निवासियों ने हमारे देश पर आक्रमण किया, तब शक्ति की लहर धीमी पड़ गई थी, उसका वेग रुक गया था। फिर अफग़ान, पठान तथा मुग़ल और सब के बाद अँगरेज़ आए। उस समय शक्ति का प्रवाह रुक चुका था, देश बलहीन पड़ा था, भारत में अराजकता और अव्यवस्था का राज्य था। आज भारत की क्या दशा है ? देखो, हमारे पैरों में बेड़ियाँ हैं। करोड़ों मनुष्य दुःख और दरिद्रता में पड़े-पड़े कराह रहे हैं। तथापि शक्ति की एक विशाल लहर एक बार फिर उठेगी, यही जलनिधि का संदेश है। अपने अंतःकरण में मैं बंधन-मुक्त भारत की पूजा करता हूँ, उस नवीन भारत की जो नूतन सभ्यता और संस्कृति की जननी बने। मैं भारत को अपने इतिहास का शश्वत् उद्देश्य पूरा करता हुआ देख रहा हूँ। मैं देखता हूँ कि शताब्दियाँ उसके चरणों पर श्रद्धांजलि दे रही हैं और हे नवयुवको ! उस प्राचीन अमर भारत के प्रति अपनी अटल श्रद्धा और भक्ति प्रदर्शित करने के लिये मैं तुम्हारे सम्मुख उपस्थित हुआ हूँ।

स्वतंत्रता का तत्त्व-दर्शन

मुझ से कहा जाता है कि "देश की वास्तविक हालत को देखो।" मुझे एक गुजराती नवयुवक मिला। "उत्साह-हीनता" इस शब्द में उसने वर्तमान परिस्थिति पर अपने विचार संक्षेप में प्रकट किए। संयुक्तप्रांत के एक नवयुवक ने कहा—"उदासीनता।" सच पूछिए तो इन नवयुवकों के विचार देश के अधिकतर नवयुवकों के विचार ही हैं। गत कुछ वर्षों की घटनाओं में मुझे एक बड़ा भारी दोष दिखलाई पड़ता है—अव्यवस्था, विधि का व्यतिक्रम। वैमनस्य और भेद-भाव राष्ट्रीय चैतन्य के लक्षण नहीं हैं। नियमित सुव्यवस्थित जीवन ही स्वस्थ, निरोग जीवन है। कितना अधिक अंतर है आज की परिस्थित का कुछ वर्ष पूर्व की परिस्थिति से।

सन् १९२१ में इँगलैंड के एक प्रमुख पत्र "वेस्ट मिनिस्टर गज़ट" ने लिखा था—

इसे कदापि नहीं भूलना चाहिए कि जो अवस्था आज भारत की है, वैसी संकटापन्न अवस्था ईसवी १८५७ (ग़दर का समय) के बाद से कभी नहीं देखी गई। अमृतसर के हत्या-कांड की (जलियाँवाला बाग़ में जनरल डायर द्वारा सैकड़ों

निरशस्त्र भारतीयों की हत्या १६१६) प्रतिध्वनि ने ब्रिटिश शासन को जड़ से हिला दिया है। भारत में, इजिप्ट में, आयर्लैंड में, सर्वत्र वही—एक ही कथा है । सैनिकवाद के पक्षपातियों ने इन समस्याओं को हल करने में सब प्रकार की यथेष्ट रुकावटें डाली हैं। उनका विश्वास है, पशु-बल की उपयोगिता में, उन्होंने सर्वत्र इसी से काम लिया है । किंतु वे एक मार्मिक बात को भूल रहे हैं कि इँगिलस्तान के पास इतना बल नहीं है कि वह चारों तरफ़ के अपने विरोधियों का सामना कर सके। संभव है कि वे इस रीति से इजिप्ट व आयर्लैंड व भारत को कुचल डालें, किंतु इजिप्ट, भारत, और आयर्लैंड सबको इकट्ठा परास्त करना असंभव है । सैनिकवादियों के दृष्टि-कोण से देखने पर भी यह स्पष्ट मालूम होता है कि ऐसी हालत में सैनिक-वाद की नीति स्वयं उन्हें ही नाश की ओर ले जावेगी ।

इसी प्रकार के विचार एक दूसरे विख्यात पत्र "न्यू स्टेट्स मैन" ने भी प्रकट किए थे—

"अनेक बातों में भारत की वर्तमान दशा सन् १८५७, के बाद की दशा से कहीं अधिक चिंताजनक है ।"

यह परिस्थिति थी छः वर्ष पूर्व (१६२१ में) । किंतु आज ? राष्ट्रीय महासभा के एक महामना भूतपूर्व सभापति

ने हाल की घटनाओं पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा—"क्या भारतवासी यथार्थ में स्वराज्य की इच्छा रखते हैं ? वे देश को बचाने के लिये कौन-कौन प्रयत्न कर रहे हैं ?"

मुझे प्रतीत होता है कि इस दुर्दशा के लिये केवल नौकर-शाही ही नहीं, वरन् हम सब लोग भी उत्तरदायी हैं। भविष्य का इतिहास-लेखक, भारत के ब्रिटिश युग को बाहरी शांति और आंतरिक पतन का काल कहेगा। हमारे नैतिक पतन का एक कारण है—सहयोग का थोथा सिद्धांत। हममें से बहुत-से लोग ऐसे हैं—जो सहयोग के सिद्धांत पर विश्वास रखते और उसे कार्य रूप में लाना चाहते हैं। वे इस साधारण तत्त्व को भूल जाते हैं, जो हमारी राष्ट्रीय आत्मा पर आघात कर रहा है। उससे सहयोग करना अपनी शक्ति को क्षीण करना ही है। भारत में अँगरेज़ी राज्य के ऊपर, जो वक्तव्य कुछ वर्ष पूर्व विलायत में प्रकाशित हुआ था, उसमें एक सारगर्भित बात स्वीकार की गई थी। उसमें लिखा था—

"आज तक भारतवर्ष में अँगरेज़ों का शासन भारतवासियों के सहयोग पर ही निर्भर रहा है, और भविष्य में उसकी निरंतर सफलता के लिये इस सहयोग की नितांत आवश्यकता है।"

वास्तव में जन-साधारण ने सहयोग से कहीं अधिक मात्रा में दब्बूपन व अधीनता से ही नौकरशाही से बर्ताव किया है। फिर भी यह निर्विवाद है कि ब्रिटिश शासन की सफलता के लिये भारतीयों का सहयोग अनिवार्य है, और अँगरेज़ी पढ़े-लिखे बहुत-से भारतवासी नौकरशाही सरकार के साथ सहयोग कर रहे हैं।

सन् १९२१ में जब कि राष्ट्रीयता और धर्म को एकमत कर स्वराज्य के लिये प्रभावशाली आध्यात्मिक अपील की गई थी, तब देश को नवीन आशा के दर्शन हुए थे। किंतु "स्वराज्य एक वर्ष में मिलेगा" यह भारी भ्रम था। बारडोली का निर्णय (कि सविनय आज्ञा भंग स्थगित कर दिया जाय) भी एक बड़ी ग़लती थी। संसार के किसी भी देश ने आज तक पूर्ण अहिंसा की शिक्षा को कार्य रूप में नहीं दिखलाया। स्वाधीनता उपहार व चमत्कार द्वारा प्राप्त नहीं होती। परमात्मा के महा नियम हमारी गणना की जंत्री के अनुसार नहीं चलते। पहले तो अपूर्व उत्साह और असीम हर्ष, फिर प्रतिक्रिया, निराशा, वैमनस्य और सांप्रदायिक झगड़े। इसके बाद स्वराजी राजनीति रंगमंच पर आई। उसकी बुद्धि ने राजनीति को अड़ंगा, विरोध-मात्र, ही समझा था। क्या इससे

तनिक भी परिस्थिति सुधरी है ? क्या राष्ट्रवादी कौंसिलों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सके हैं ? उनमें से बहुत-से लोग कहते हैं कि किसी-न-किसी दिन हम ऐसा करने में सफलीभूत हो सकेंगे, और तब शत्रु को परास्त करेंगे। मैं पूछता हूँ—"क्या यह संभव है ?" क्या वास्तव में ये कौंसिलें वाद-विवाद की मंडलियों से अधिक उपयोगी हैं ? क्या सचमुच में तुम्हारा यह विश्वास है कि हम तर्क और विवाद से ही स्वराज्य को जीत लेंगे ? सच्चा और पक्का प्रभाव पड़ता है शक्ति का, तर्क-वितर्कों का नहीं। आज-कल राजनीतिक दावपेंचों के संबंध में बहुत कुछ सुन रहे हैं। हमसे कहा जाता है कि राजनीति शतरंज के खेल के समान है, उसमें आगे बढ़ना, पीछे हटना, स्थान बदलना आदि स्वाभाविक हैं। मैं राजनीति-विशारद नहीं हूँ, तथापि मैं अनुभव करता हूँ कि—राजनीति को कोई खेल नहीं वरन् शक्ति, संचालिनी शक्ति, होना चाहिए। मेरी धारणा है कि स्वराज्य-संग्राम में हमें अब तक विजय-लाभ इसलिये नहीं हुई कि हम राजनीति के दावपेंचों में ही फँसे रहे। वे बहुधा मूर्ख होते हैं, जो स्वाधीनता के संग्राम में हानि-लाभ की गणना करते हैं। मुक्ति का तत्त्व है—अटल श्रद्धा, संसार-शक्ति में दृढ़ विश्वास, भारत-

माता की सच्ची भक्ति। यह श्रद्धा मेरे हृदय में है। अतएव मैं उन मार्गों की बुराई नहीं करता, जिन पर हम ग़लती से चलते रहे हैं। यही कारण है कि मेरे भाषण की प्रधान और प्रबल ध्वनि आशा और शक्ति का संदेश ही है।

संसार के इतिहास में आशा और श्रद्धा के युग ही महान् युग हुए हैं। आज, स्वदेश की पराजय और निराशा के समय, मैं तुमसे निवेदन करता हूँ कि अपने भविष्य में दृढ़ विश्वास रक्खो। नवयुवकों से मेरा कथन है कि "स्वराज्य-प्राप्ति की प्रतिज्ञा को फिर से दृढ़ बनाओ। भारत-माता हमारी नेत्री है, अमर माता को कौन जीत सकता है?"

फिरो (प्राचीन इजिप्ट का राजा) के संबंध में एक कथा है। उसने एक स्वप्न देखा और उसका अर्थ पूछने के लिये किसी विद्वान् को बुलाया। स्वप्न में उसने बेबिलोन * और निनिवे * के राजपथों की यात्रा की थी और टिग्रिस तथा यूफ्रेटीस नदी को पार किया था। किंतु जहाँ-जहाँ वह गया, रास्तों में अथवा मंदिरों में, सब कहीं उसे एक ही शब्द सुनाई दिया—"हमारे सहायक फिर लौटकर आ रहे हैं।" फिरो ने उस विद्वान् से पूछा—"इस स्वप्न का क्या अर्थ है?"

---

* प्राचीन काल की एक-प्रधान सभ्यता के केंद्र और सुविख्यात नगर थे।

विद्वान् ने उत्तर दिया—"आपको उचित है कि आप यहूदियों को बंधन-मुक्त कर दें; क्योंकि उनके सहायकगण आ रहे हैं।" फिरो ने कहा—"मैं इतना बलवान् हूँ, ऐसा नहीं हो सकता।" तब विद्वान् ने उत्तर दिया—"हे राजन्! यहूदियों का ईश्वर आपसे अधिक शक्तिशाली है।"

मैं भी नौकरशाही से कहता हूँ—"ईश्वर की क्षमता तुम्हारी क्षमता से कहीं अधिक है।"

मित्रो! विश्वास रक्खो, यह आंदोलन मनुष्यकृत नहीं है, तुम इसको कुचल नहीं सकते, इसका अंत होना असंभव है; क्योंकि ईश्वर सदैव हमारा त्राता और प्रभु है। वही मृत्युपर्यंत हमारा पथ-प्रदर्शक होगा।

क्या नवयुवक स्वातंत्र्य-विजय कर सकेंगे ?

अपनी दुरावस्था की कठिनाइयों से मैं भली भाँति परिचित हूँ तथापि मेरे हृदय में अचल विश्वास है कि एक बार फिर भारत सबल स्वतंत्र राष्ट्र बनेगा। इतिहास के आदिकाल से ही भारत ने अपना जीवन बड़े गौरव के साथ प्रारंभ किया था। क्या मानवजाति के इस नवीन युग में उसका कलंक और अपयश के साथ पतन और अंत होगा ? मैं नवयुवकों की ओर देखता हूँ। उन्हीं पर हमारा भविष्य निर्भर है वे ही भविष्य के निर्माता हैं। युवकों को देश के नेतृत्व में भाग लेना चाहिए, उन्हीं में से राष्ट्र-धर्म के—मातृ-भक्ति—के—नए उपासक उत्पन्न होंगे। इतिहास साक्षी है कि युवकों की जागृति से उन्नति के मार्ग की सब रुकावटें दूर हो जाती और नवीन स्फूर्ति का प्रवाह खुल जाता है। जब-जब युवकों में जागृति हुई है, तब-तब शक्ति की प्रचंड लहरें उठी हैं। चीन, जापान, कोरिया, टर्की, इजिप्ट और इटाली में नवयुवकों ने अपने देश को सबल और स्वतंत्र बनाने में सहायता दी। क्षति-पूर्ण के एक विचित्र

नियम के अनुसार पराजय प्रतिक्रिया द्वारा, नवयुवकों में—पुनर्निर्माण की आकांक्षा को उत्पन्न करती है । गत योरपीय महासमर में (१९१४-१८) जर्मनी की बुरी तरह हार हुई और उसे अनेक प्रकार की हानि और दुर्दशा सहनी पड़ी । किंतु वर्तमान जर्मनी की क्या दशा है ? उपर्युक्त महानियम वहाँ पर अपना काम कर रहा है । आज जर्मन नवयुवक स्वदेश के उज्ज्वल भविष्य में अचल श्रद्धा रखते हैं । यही भारत में भी संभव है । आज भारत परास्त है, किंतु पराजय के अंतरतम प्रदेश में भी नवयुवकों को स्वातंत्र्य-प्राप्ति की दृढ़ आकांक्षा उत्पन्न हो सकती है । वे भारत के ज्वलंत भविष्य की भक्ति के वातावरण में विचरण करें । आजकल जिसे हम आलोचना करते हैं, वास्तव में उसका बहुत-सा भाग विच्छेद ही कहा जा सकता है । नूतन रचनात्मक प्रवृत्ति से ही राष्ट्रीय चेतनता का विकास होवे । इसके लिये भारतीय आदर्श के ज्ञान की आवश्यकता है । जब इस ज्ञान से प्रेरित-प्रेम युवकों के अंतःकरण में प्रविष्ट होगा, तभी वे भारत-माता की त्याग और बलिदान से पूजा करेंगे ।

भारत की समस्या का मर्म क्या है ? भारतीय अशांति का क्या तात्पर्य है ? इन विषयों पर कुछ पढ़े-लिखे लोगों

की बहस हो रही थी। उनमें से एक ने कहा—"यह सब (वर्तमान आंदोलन) ऊपरी दिखावट है, भीतर कुछ भी तथ्य नहीं दीखता।" इस प्रकार उत्तर देनेवाले महाशय यह भूल गए कि गत वर्षों में, जन-समूह में, सच्ची जागृति हुई है। दूसरे बोले—"इस अशांति का कारण दमन ही है।" यह सच है कि दमन अशांति को अधिक उग्र बना देता है, किंतु वह उसका कारण नहीं कहा जा सकता। अशांति के कारण हमें अन्य स्थलों में मिलेंगे। तीसरे बोले—"यह अशांति संसारव्यापी महान् अशांति से उत्पन्न हुई है।" यह सच है कि आज समस्त संसार में हलचल मची हुई है और योरपीय महासमर के बाद इसने और भी अधिक रुद्र रूप धारण कर लिया है। किंतु भारतीय हलचल में, जो विशेष लक्षण और प्रवृत्तियाँ दिखलाई देती हैं, उनकी उत्पत्ति का कारण संसारव्यापी अशांति नहीं है। भारतीय आंदोलन का लक्ष्य कोई रक्त-पिपासु हिंसात्मक विप्लव नहीं है। हमारे प्रमुख राजनीतिज्ञों में से कोई भी खूनी क्रांति की उपयोगिता पर विश्वास नहीं रखते। जब से बारडोली के प्रस्ताव से सत्याग्रह आंदोलन स्थगित कर दिया गया है, तबसे अनेक नवयुवक बोलसेविज्म* और खूनी क्रांति की बात करने

* रूसी राज्यक्रांति (१९१७-१८) के सिद्धांत।

लगे हैं। किंतु इस हिंसात्मक प्रवृत्ति के प्रधान कारण निराशा और विषाद ही है।

भारत की आत्मा राजनीति से कहीं अधिक महत् है। भारतीय अशांति केवल राजनीतिक उथल-पुथल नहीं है, उसका वास्तविक कारण है दो विभिन्न विपरीत आदर्शों का पारस्परिक संघर्ष। भारतीय आदर्श और अँगरेज़ीसभ्यता की मुठभेड़ है। हमारी जातीय आत्मा और पाश्चात्यता का युद्ध हो रहा है, अतएव राजनीतिक सिद्धांतों के पृष्ठ देश में आध्यात्मिक विरोध-भाव भी प्रबल हो रहे हैं। जनता वर्तमान व्यवस्था से स्वभावतः विपरीत है। यदि हम इस अशांति की सावधानी से व्याख्या करें, तो हमें पता लगेगा कि इसका मूल कारण दो भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का—एशियायी और पश्चिमी संस्कृतियों का आघात-प्रतिघात ही है। केवल भारत में ही नहीं, वरन् सारे एशिया महाद्वीप में आज एक विस्तृत आंदोलन चल रहा है। चीन, जापान और भारत उसके मुख्य केंद्र हैं। इसने भारत में वह परिस्थिति उत्पन्न कर दी है, जिसे मनोविज्ञान के पंडित "विषमता" कहते हैं। मेरी बुद्धि के अनुसार भारत की समस्या यही है कि किस भाँति आत्मबोध और आत्मोन्नति प्राप्त हो। अतएव देश के नवयुवकों के

सामने भारतीय आदर्शों को उपस्थित करना परमावश्यक है।

लियोनिल कर्टिस (प्रसिद्ध अँगरेजी लेखक और राजनीतिज्ञ हैं) जिनका प्रभाव मांटेगू की सुधार-योजना (१६१६) पर बहुत अधिक पड़ा है, कहता है—

"ब्रिटिश-साम्राज्य आज भारत को फिर से जीतने में लगा हुआ है। पिछली विजय शारीरिक थी, वर्तमान उद्योग आत्मिक विजय के निमित्त है।" यथार्थ में अँगरेजों ने भारत को कदापि नहीं जीता। आपस की फूट और कलह तथा अस्तव्यस्तता ने भारत पर विजय पाई और देश सहज ही में विदेशियों का दास बन गया। किंतु यह सच है कि आज ब्रिटिश-साम्राज्य भारत पर आध्यात्मिक विजय-प्राप्ति की चेष्टा कर रहा है, उसका उद्देश्य है कि पाश्चात्य संस्कृति भारतीय संस्कृति पर अपना प्रभुत्व जमा ले। इस पाश्चात्यता ने हममें से अनेकों को ग्रस लिया है। इससे बचने के लिये नवयुवकों को भारतीय आदर्शों के महत्त्व को समझना चाहिए। तभी उनमें भारत के प्रति नवीन और सुंदर भक्ति उत्पन्न होगी और वे अनंत यौवन की वासभूमि मानकर उससे प्रेम करेंगे।

आर्य-सभ्यता

इतिहास की एक शिक्षा यह है कि राजनीतिक दासता से अनेक दोषों का संवर्धन होता है। इनमें से एक दोष है—अनुकरण। मेरा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि हम पाश्चात्य विचार तथा जीवनचर्या के उन्नत, उदार तथ्यों पर भी कृतज्ञता प्रकट न करें। मैं पूर्व और पश्चिम के समन्वय में विश्वास रखता हूँ। मैत्री, जातियों व धर्मों के संसर्ग के महत्त्व से मैं भली भाँति परिचित हूँ। अपने प्रतिभा-संपन्न काल में भारत का अन्यान्य जातियों और धर्मों से संबंध था। पार्थक्य विनाश का लक्षण है। पृथग्भाव स्थायी अनुन्नतिशील संस्कृति का द्योतक है। अनुदार संस्कृति का परिणाम अधर्म और अनाचार होता है। किंतु पार्थक्य एक बात है, अनुकरण दूसरी; दोनों में आकाश-पाताल का अंतर है। हमारे राजनीतिज्ञ कभी मेज़िनी * और

---

* मेज़िनी—(१८०७—१८७२) इटली के प्रसिद्ध देशभक्त और प्रतिभाशाली लेखक। आपने राजनीतिक विषयों पर अधिकतर लिखा है।

वोल्टेयर※ से, कभी टॉल्सटाय † और लेनिन ‡ से प्रेरणा तथा स्फूर्ति की याचना करते हैं। मैं नम्रता से निवेदन करता हूँ कि भारत के ऋषियों, महात्माओं और कर्म-वीरों के चरित्र तथा उपदेशों में इन पाश्चात्य महापुरुषों से कहीं अधिक प्रेरणा वर्तमान है। "हम एक प्राचीन गुणसंपन्न जाति की संतान हैं", यह चेतना हमारे विद्यालयों में पढ़ाई जानेवाली पाठ्य-पुस्तकों की शिक्षा से मेल नहीं खाती। वर्तमान शिक्षा आत्म-विश्वास को दृढ़ करनेवाली इस चेतना के सर्वथा प्रतिकूल है। अँगरेज़ी शासन ने इस विचार को उत्पन्न किया है कि यदि भारत की उन्नति करना चाहते हो, तो देश में पाश्चात्यता की स्थापना अनिवार्य है। नौकर शाही ने बार-बार यह आग्रह किया है कि भारतीय शासन में जो अँगरेज़ी लक्षण हैं,

---

※ वोल्टेयर (१६९४—१७७८) फ्रांस के एक सर्वश्रेष्ठ लेखक और दार्शनिक माने जाते हैं। आप कवि, नाट्यकार, दार्शनिक और समालोचक थे। जिन विचारों के कारण फ्रांस में राज्यक्रांति (१७८९—९३) हुई उन पर आपके लेखों का बहुत प्रभाव पड़ा था।

† टॉल्सटाय—(१८२०—१९१०) आप रूस के प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक और समाज-सुधारक थे। आपने वर्तमान सभ्यता और शासन-पद्धति की गंभीर समालोचना की है। महात्मा गांधी पर आपके विचारों और सिद्धांतों का गहरा प्रभाव पड़ा है।

‡ रूसी राज्यक्रांति और बोलशेविज़्म के प्रमुख नेता।

उनको सदैव सुरक्षित रखना चाहिए। विदेशी सरकार के अधिकारियों द्वारा शासित विद्यालय और महाविद्यालय भारतीय प्रतिभा, संस्कृति और सभ्यता के प्रति हमारी श्रद्धा और भक्ति को नष्टप्राय कर देते हैं। उचित है कि तरुण भारत योरप के स्वाधीनता के आचार्यों की प्रेरणा को अनुभव करते हुए भी भारत के प्राचीन आदर्शों को कदापि न भूले। यह ज्ञान उन्हें आधुनिक सभ्यता के अंधकूप में गिरने से बचा सकेगा, इसी से उन्हें प्रजासत्ता के आध्यात्मिक अर्थ और महत्त्व का परिचय मिलेगा।

संसार की प्रमुख सभ्यताएँ फ़ारस, बेबिलोनिया, ऐसीरिया, प्राचीन अमेरिका, ग्रीस, रोम और आर्यावर्त की सभ्यताएँ हैं। आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता सबसे नई सभ्यता है, इसमें भी अनेक महान् तत्त्व हैं। इसका विज्ञान और स्वातंत्र्य प्रेम मानव-जीवन के लिये अत्यंत उपयोगी है। किंतु एशिया के संघर्ष से पाश्चात्यता में अनेक शोचनीय दुर्गुणों का समावेश हो गया है। पाश्चात्य सभ्यता ने पूर्वीय देशों में आकर शिल्प-वाणिज्य, यंत्रवाद, अन्य जातियों पर शासन, इन्हीं दोषों का परिचय दिया है।

जब हम यह सोचते हैं कि स्वयं प्रभु ईसा मसीह तथा

अगस्टाइन, ❀ अशानासियस, † साइप्रियन ‡ प्रभृति ईसाई महात्मागण एशियावासी थे, तब ईसाई जातियों का एशियों के प्रति यह दुराग्रह और भी अधिक निंदनीय प्रतीत होता है। हाल ही में ईसाइयों की एक महासभा इँगलैंड में हुई थी। उसमें एक भारतवासी ने भाषण देते हुए कहा—"यदि स्वयं प्रभु ईसा आज संसार में आवें, तो एशियावासी होने के कारण अनेक अँगरेजी उपनिवेशों के गिरजाघरों का द्वार उनके लिये बंद कर दिया जायगा और ईसाई लोग उन्हें प्रवेश करने की अनुमति नहीं देंगे।" पादरी फ़िशर कहते हैं—"श्वेतांग जातियों के दुराग्रह के विरुद्ध आंदोलन करने में हमें दक्षिण आफ्रिका के संगठित ईसाइयों से कुछ विशेष सहायता की आशा नहीं करनी चाहिए।" महात्मा ईसा ने मनुष्य-मात्र के भ्रातृत्व की शिक्षा दी थी, किंतु आज अपने

❀ संत अगस्टाइन (३५४—४३०) प्रसिद्ध ईसाई धर्मगुरु थे।

† संत अशानासियस (२९६—३७३) आप भी ईसाई धर्म-गुरु और लेखक थे।

‡ संत साइप्रियन (२००—२५८) आप उत्साही धर्मोप-देशक और प्रभावशाली लेखक थे। रोम के सम्राट् ने आपको आज्ञा दी कि ईसाई धर्म का उपदेश देना बंद कर दो। किंतु आपने उसको नहीं माना। फलतः आपको मृत्यु दंड मिला।

को ईसाई कहते हुए भी लोग अन्य जातियों से दुराग्रह करते और उन पर प्रभुत्व जमाने के पक्षपाती हैं। एक ईसाई उपदेशक ने इन शब्दों में अपनी भूल को स्वीकार किया है—

"अनेक जातियों पर मुसलमानों के भ्रातृत्व का ईसाइयों से अधिक प्रभाव पड़ा। इसी कारण पूर्वीय देशों के ईसाइयों तथा अन्यान्य मूर्तिपूजक जातियों ने इसलाम की शरण ली है।"

उन ईसाई उपासना-मंदिरों में, जहाँ के लोग श्वेतांग जातियों के साम्राज्यवाद के विरुद्ध आवाज़ नहीं उठाते, प्रभु ईसा की प्रेरणा का अस्तित्व कदापि नहीं माना जा सकता।

नवयुवकों के सामने आर्य आदर्श को रखना नितांत आवश्यक है। इस आदर्श के कारण एक अद्भुत साहित्य, उदार परिष्कृत संस्कृति, प्रतिभाशाली सभ्यता तथा (मेक्समूलर * के शब्दों में) एक आध्यात्मिकता प्रधान समाज का संसार में समावेश हुआ। चीन से आए हुए अनेक बौद्ध यात्रियों ने भारत की अवस्था का सुंदर चित्र खींचा है। उस समय

---

* मेक्समूलर (१८२३-१९००) आप जर्मन थे। आप भाषा-शास्त्र के अद्वितीय विद्वान् थे। आपने प्राचीन भारत के संस्कृत-ग्रंथों का अध्ययन किया और भारत के धर्म और साहित्य पर अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ लिखे।

भारत में शक्ति और संस्कृति, दोनों का निवास था। फ़ाहियान एक प्रसिद्ध चीनी यात्री था। भारतवर्ष में उसने १५ वर्ष (३९९-४१४ ई०) भ्रमण तथा अध्ययन में व्यतीत किए। उसने तत्कालीन भारत का वृत्तांत लिखा है। फ़ाहियान कहता है—

"सारे देश में न तो कोई जीवहत्या करता और न मदिरा आदि मादक द्रव्यों का सेवन करता है।

"नगरों में वैश्य महाजन दान तथा चिकित्सा के हेतु संस्थाएँ स्थापित करते हैं। देश-भर के दीन और अकिंचन अनाथ बालक, विधवा, विधुर, संतानहीन, दुःखीजन, लूले-लँगड़े, रोगी आदि—उन औषधालयों और दान-गृहों में जाते हैं। वहाँ उन्हें सब प्रकार की सहायता मिलती है। वैद्य उनके रोगों की परीक्षा करते हैं। उचित भोजन और औषधि मुफ़्त दी जाती है। वहाँ उनके लिये सब प्रकार के आराम का प्रबंध रहता है। अच्छे, भले-चंगे हो जाने पर वे स्वयं ही वहाँ से चले जाते हैं।"

मनुष्यता का यही सौंदर्यमय आलोक वेद और उपनिषद् से लगाकर गीता और त्रिपिटका ❀ तक समस्त आर्य-साहित्य

❀ बौद्धों के धर्म-ग्रंथ।

में प्रतिबिंबित है। इसी उदार आभास की प्रतिमूर्ति भारतीय कला में दृष्टिगत होती है। आज संसार का ध्यान इसकी ओर आकर्षित हो रहा है और ऐसा होना उचित भी है। माउरोस्की, स्क्रियाबिन तथा स्ट्राविंसकी-सदृश संगीत-विद्या के पंडित भारतीय संगीत की सारंग और वसंत आदि रागों की उत्तमता के साक्षी हैं। भारत के संगीत का पश्चिम की रस-संबंधी चेतनता पर प्रभाव पड़ रहा है। किंतु भारतवर्ष केवल "कला-प्रवीण अथवा तत्त्वदर्शियों का देश" नहीं था। मेक्समूलर का यह निर्णय अनुपयुक्त है। भारत की सभ्यता में शक्ति और पराक्रम का सम्मिलन था। वह शक्ति-प्रधान सभ्यता थी। प्राचीन लिखित प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि उस समय भारत सुसंगठित तथा समृद्धिशाली राष्ट्र था। भारतवासी सामुद्रिक व्यापार करते थे। उनका शिल्प और वाणिज्य समुन्नत दशा में था। दो हज़ार वर्ष पूर्व के एक इतिहासकार ने लिखा है कि कपड़े बुनने में भारतवासियों का कौशल आश्चर्यजनक था। संसार में कपड़ा बनाने

कौशल की उन्नति सर्वप्रथम भारत में ही हुई थी। कितनी लज्जा की बात है कि वही भारत आज कपड़े के लिये अन्य देशों का मुँह ताकता है!

भारतवासियों ने जावा के लोगों को गृह-निर्माण तथा

मूर्ति-कला की शिक्षा दी थी। जावा की संस्कृति पर रामायण और महाभारत का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा था। जावा की भाषा में भी भगवद्गीता का अनुवाद पाया जाता है। मलाया द्वीप समुदाय की कला पर वैदिक संस्कृति तथा श्रीराम के वीर-चरित्र का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। मौर्य-सम्राट् चंद्रगुप्त ने ग्रीस-वासियों को अनेक बार बुरी तरह परास्त किया था (ई० पूर्व ३२१-३०६ तक)। इससे हिंदू-सभ्यता के वीर्यदर्शन का परिचय मिलता है।

कौन-सी प्रजासत्ता ?

योरपियनों को एक असत्य, अविचार-पूर्ण किंतु सामान्य धारणा यह है कि प्रजा-सत्ता भारतीय प्रतिभा और आदर्शों के प्रतिकूल है। प्रजातंत्र के सिद्धांत का प्रवेश इस देश पर ब्रिटिश-शासन का एक उपकार माना जाता है। सर फ्रेडरिक व्हाइट ❀ का कथन है कि "जो आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था आज हम भारत में पाते हैं, उसके लिये देश हमारा (अँगरेज़ों का) ऋणी है।" यह सत्य है कि आर्थिक शिल्प-वाणिज्य पश्चिम की उपज है, किंतु प्रजासत्ता के सिद्धांतों का ज्ञान भारतवासियों को भी था, इसके लिये उन्हें योरपियनों से याचना नहीं करनी पड़ी। यदि सर फ्रेडरिक व्हाइट चणक के सूत्र, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा राजर्षि भीष्म का राज-धर्म पर सारगर्भित वक्तव्य (महाभारत शांतिपर्व) पढ़ें, तो सहज ही में उन्हें अपनी ग़लती मालूम हो जावेगी।

यह भले ही असंगत प्रतीत हो, किंतु मैं इसे सत्य मानता

❀१९२१-२६ तक भारत की व्यवस्थापक सभा के सरकार-निर्वाचित सभापति।

हूँ कि भारत की स्वाधीनता की समस्या, स्वराज्य का प्रश्न, राजनीति से कहीं अधिक मनोविज्ञान के क्षेत्र का प्रश्न है। नौकर शाही ने अपने प्रभुत्व को अनेक मायाजालों द्वारा सुदृढ़ किया है। यदि भारत को मुक्ति प्राप्त करना है, तो उसे इस माया के बंधन को तोड़ना पड़ेगा। मैं इन प्रपंचों को भूत कहता हूँ। एक भूत, जो हमें बहुत दिनों से भय दिखला रहा है, यह है कि "प्रजातंत्र शासन पश्चिमी सभ्यता की संपत्ति है, वह भारतीय बुद्धि से विपरीत है, अतएव हमें अपने श्वेतांग शासकों से थोड़ा-थोड़ा करके धीरे-धीरे उसका तत्त्व सीखना पड़ेगा।" हमें शनैः-शनैः क्रम-क्रम से प्रजासत्ता का उपदेश ग्रहण करना पड़ेगा। आर्य-साहित्य और विचार के अध्ययन से मुझे यह स्पष्ट रूप से विदित हो गया है कि प्रजासत्ता हमारे आदर्शों के प्रतिकूल नहीं, वरन् पूर्णतया अनुकूल है। वेदों में बार-बार राजा को यह उपदेश दिया गया है कि "राज-सभा और जनता की इच्छानुसार बर्तना चाहिए।" "राजा" शब्द सार-पूर्ण है, उसका अर्थ है "वह मनुष्य जो जन साधारण की भलाई के लिये प्रयत्नशील हो।" ऋषियों के आदर्श के अनुसार राजा प्रजा का भृत्य-मात्र है। ऋषिगण, सिद्ध, महात्मा तथा देशभक्त थे, उन्होंने शक्ति और राष्ट्रीय चेतनता का उदार संदेश सुनाया था। उनके प्रभाव और प्रेरणा से

भारत में ऐसी राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था का विकास हुआ, जिससे भारतवासियों को अकांक्षणीय सुख और अभ्युदय की प्राप्ति हो सकी थी। मेगेस्थनीज़ महाराज चंद्रगुप्त के दरबार में ग्रीक राजदूत थे। ई० पू० ३०५ में ग्रीक सम्राट् सेल्यूकस ने इन्हें भारत भेजा था। भारतके संबंध में इनके जो विचार हैं वे ध्यान देने योग्य हैं। एक विद्वान् इतिहासकार कहता है—

"ग्रीक राजदूत ने इस देश में दासत्व प्रथा का अभाव, स्त्रियों का सतीत्व-पालन और पुरुषों का उत्साह देखा और उनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की। वीरता में भारतवासी समस्त एशिया में श्रेष्ठ माने जाते थे। सदाचार ऐसा था कि लोगों को अपने दरवाज़ों पर ताला लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। सबसे अधिक प्रशंसा और आश्चर्य की बात तो यह थी कि कोई भी भारतवासी कभी भी झूठ बोलते नहीं सुना गया था। भारतवासी शांत, उद्यमी किसान और निपुण शिल्पी होते थे। उन्हें न्यायालय तक कदाचित् ही जाना पड़ता था। वे अपने राजाओं के राज्य में सुख-शांति से रहते थे। जिस शासन-प्रणाली का चित्र मेगेस्थनीज़ ने खींचा है, वह मनुस्मृति में निर्दिष्ट व्यवस्था से प्रायः मिलती-जुलती है। मेगेस्थनीज़ कहता है कि भारतवर्ष ११८ राज्यों में विभाजित था। इनमें से कुछ चंद्रगुप्त मौर्य द्वारा शासित प्राची देश

की तरह चक्रवर्ती भी थे। ग्रामीण व्यवस्था का वर्णन भी मेगेस्थनीज़ ने भली भाँति किया है। उनका शासन इतना उत्तम था कि ग्रीक राजदूत को प्रत्येक ग्राम एक छोटे स्वायत्त पंचायती राज्य के समान भासित होता था।

"भारत ग्रामीण पंचायतों का देश था। ये स्वतंत्र संस्थाएँ थीं। इनका अस्तित्व सन् १८१६ ई० तक रहा। इसके अनंतर ब्रिटिश-शासन के चक्र ने इन्हें पीस डाला। "पंचायत में परमेश्वर बसते हैं" यह कहावत अब तक भी देशीभाषाओं में प्रचलित है। मेरी धारणा है कि प्रारंभ में जाति-विभाग भी भिन्न-भिन्न व्यवसायों के स्वतंत्र गण थे (गण-व्यवसाय के हेतु संगठित स्वायत्त संस्थाएँ, कर्म के अनुसार समाज के विभागों के संगठित रूप को गण कहते हैं)। गीता में उपदिष्ट स्वधर्म से आधुनिक राजनीति के "आत्मनिर्णय" सिद्धांत का स्मरण हो जाता है।"

सर जान उडरोफ़ ने सच कहा है—

कुछ लोग सोचते हैं कि इस कारण कि भारत में चुनाव की पेटी इत्यादि पश्चिमी राजनीतिक जीवन की सामग्री दिखाई नहीं देती, यह सिद्ध होता है कि भारत को प्रजातंत्र शासन का पता नहीं था। जो लोग ऐसा

समझते हैं, वे अपने विषय को ठीक-ठीक नहीं जानते, उनका अध्ययन पर्याप्त नहीं है, क्योंकि यह निर्णय सर्वथा असत्य है।

महाभारत के राजधर्म-नामक सर्ग में प्रजा के प्रति राजा के कर्तव्य का उन्नत आदर्श दर्शाया गया है। राजर्षि भीष्म तो यहाँ तक कहते हैं कि "जो राजा अपनी प्रजा से कहता है कि मैं तुम्हारा रक्षक हूँ, किंतु जो वास्तव में उनकी रक्षा नहीं करता, वह राजा समस्त प्रजा के द्वारा पागल कुत्ते की तरह मार डाले जाने योग्य है।" प्राचीन भरत के इतिहास तथा अन्यान्य ग्रंथों में हमें राजसमिति तथा नागरिकों की सभा का वृत्तांत मिलता है। राजा धर्मपाल के शिलालेख में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि उसके वंश को राजा का पद जनसाधारण से निर्वाचन द्वारा ही प्राप्त हुआ था। बौद्धों की पुस्तकों में हम नृपहीन शासन-प्रणाली का वर्णन पाते हैं। महाभारत में गणों (Repuclics) का वृत्तांत मिलता है। कौटिल्य चाणक्य अपने अर्थशास्त्र में कहता है कि "शासन-प्रभुत्व पर एक संघ (Class) का भी अधिकार हो सकता है, क्योंकि संघ को जीतना (एक राजा की अपेक्षा) अधिक कठिन है। अराजकता का भय न रहने के कारण उसे (संघ-शासन को) संसार में स्थायी अस्तित्व भी प्राप्त हो सकता है।"

हमने पढ़ा है कि लिच्छवी जाति (प्राचीन आर्यों का एक विभाग जो मगध देश में बस गया था । इस जाति का मुख्य नगर वैशाली था) के लोग प्रतिनिधियों का चुनाव करते थे । यह प्रतिनिधि सभा सार्वजनिक प्रश्नों का निर्णय तथा कर्मचारियों का निर्वाचन करती थी। शासन-संबंधी अन्यान्य छोटी मोटी बातों का निर्णय इस सभा ने नौ सदस्यों के मंत्रि-मंडल पर छोड़ दिया था। चीनी यात्री फ़ाहियान ने लिच्छवियों को नृपहीन राष्ट्र कहा है । इससे यह सुचारु रूप से प्रकट होता है कि वहाँ प्रजासत्तात्मक शासन प्रचलित था । शाक्य मुनि भगवान् गौतम बुद्ध के पिता शुद्धोधन राजा कहलाते थे, किंतु इस प्रसंग में राजा का अर्थ था—"शाक्य प्रजातंत्र का सभापति ।"

यह कहना कि भारत को प्रजातंत्र का ज्ञान नहीं था, ऐतिहासिक दृष्टि से बिलकुल अन्याय्य और असंगत है । इतना ही नहीं, मैं तो यहाँ तक कह सकता हूँ कि आर्यावर्त में ऐसी उत्तम प्रजासत्ता का विकास हुआ था जो अनेक बातों में पाश्चात्य प्रजासत्ता की बुराइयों से रहित थी । प्राचीन एथेंस का शासन प्रजा-तंत्र था, किंतु उसकी स्थिति दासत्व प्रथा पर अवलंबित थी । रोमन साम्राज्य का शासन पंचायती था, किंतु थोड़े समय के बाद ही वह एकछत्र साम्राज्य

में—एक राजा के अनियंत्रित शासन में—परिणत हो गया। सन् १६८८ ई० में इँगलिस्थान में प्रजासत्ता की स्थापना हुई, किंतु उसमें जन-साधारण को एक छोटे-से हिस्से को ही प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था—सबको नहीं। फ्रांस के पंचायती राज्य का जन्म रक्तपात द्वारा हुआ। वर्तमान अमेरिका की प्रजासत्ता वास्तव में धनवानों की सत्ता ही है—जनता की नहीं। पश्चिम के अधिकांश प्रजातंत्र राज्यों पर धनवानों का प्रभुत्व है, लोकमत का नहीं। अनेकों को शासन-कार्य में सफलता नहीं मिली। इटली का विख्यात तत्त्वदर्शी इतिहासकार फ़रेरो योरप की परिस्थिति का निरीक्षण करता हुआ लिखता है—

"पाँच वर्ष से योरप में ध्वंस मचा हुआ है, इस कारण वहाँ के राज्यों तथा राष्ट्रों में अब कोई भी पारस्परिक समाज-हित तथा उद्देश्य नहीं रहे। उनमें भाषा, धर्म, राजनीतिक विचार तथा सामाजिक व्यवस्था, किसी की भी समानता नहीं रही है।"

अब हम इतिहास के उस युग में पहुँच चुके हैं, जब यह सभ्यता मरणासन्न हो गई है। संसार को आवश्यकता है नूतन सभ्यता की। उसे प्रजासत्तात्मक होना आवश्यक है, किंतु उसका संगठन आर्य-सभ्यता की तरह, धर्म की सदाचार नीति पर

होना चाहिए । जन-साधारण का मत ? लोक-मत ? हाँ, ठीक है, परंतु इनका निग्रह एक उच्चतर सिद्धांत—सदाचार-नीति के विधान—से होना चाहिए । राष्ट्र को भी नैतिक नियमों का प्रभुत्व मानना पड़ेगा । इस नीति के बिना जन-साधारण का मत द्वेष की वासना का केंद्र बन सकता है, और राष्ट्रीयता जन-समूह की स्वार्थ-प्रधान निष्ठुरता का रूप धारण कर सकती है । जब तक उसे धर्म और सदाचार का आधार नहीं मिलता, तब तक पश्चिम हिंसा और रक्तपात के पीछे ही भटकता रहेगा ।

स्वराज्य का रहस्य

अपने सच्चे स्वरूप की प्राप्ति ही स्वराज्य है। स्वराज्य का अर्थ है आत्मज्ञान, न कि अन्य किसी देश का अनुकरण, चाहे वह कितना ही महत् अथवा गुणसंपन्न क्यों न हो। यदि भारत को संसार का कुछ भी उपकार करना है, तो यह तभी संभव है, जब वह स्वयं अपने जीवन, ज्ञान तथा संस्कृति का विकास करे। अँगरेज़-समालोचक विलियम आर्चर ने अपनी पुस्तक "भारत और भविष्य" में लिखा है कि भारत को धीरे-धीरे पाश्चात्य आदर्शों की शिक्षा देना ही उसे मुक्ति-पथ पर अग्रसर करना है। यह विद्वान् स्वराज्य का सच्चा अर्थ नहीं समझ सका। भारत का भविष्य इँगलिस्तान के अनुकरण पर नहीं, वरन् आत्मस्वरूप के प्रबोधन पर ही निर्भर है।

प्रोफ़ेसर वानटाइन अपनी "भारतीय आंदोलन"-नामक पुस्तक में भारतवासियों की, स्वराज्य की माँग की, आलोचना विशेषकर एक युक्ति पर करते हैं। वह कहते हैं कि "पढ़े-लिखे भारतवासियों पर हम विश्वास कर सकते हैं। किंतु उनमें लाखों अपढ़ और मूर्ख हैं, इन पर हम विश्वास नहीं कर सकते।" प्रसिद्ध अँगरेज़-संपादक गारविन ने "भारत के भविष्य"

पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि "भारत में अँगरेज़ लोग उस मूक अशिक्षित विशाल जन-समूह के हित-रक्षक हैं, जो अज्ञानता के कारण अपने हितो को समझने व सँभालने में असमर्थ हैं। अतएव जब तक सारा भारत इतना सुशिक्षित न हो जावे कि वहाँ वर्तमान अँगरेज़ी शासन के समान उदार न्यायपरायण और दृढ़-संयुक्त-राज्य की स्थापना हो सके, तब तक अँगरेज़ लोगों को भारत की रक्षा का भार और शासन का दंड अपने ही हाथ में रखना चाहिए, तब तक भारतबासियों को स्वराज्य देना अनुचित अथवा हानिकर होगा।" अँगरेज़ों की सारी युक्तियो का आधार यही है कि जो स्वराज्य योरपीय जातियों के लिये उपयोगी और वांछनीय है, वही भारत के लिये विनाशकारी होगा। भारत स्वराज्य के योग्य नहीं है, यह कितनी अधम धारणा है। क्या भारत में कोई विशेष प्रकार के मनुष्य रहते हैं, जिनसे बालकों के समान बर्ताव किया जाना चाहिए तथा श्वेतांगों को जिन पर कठोर शासन करना चाहिए? भारतीय आंदोलन के अनेक योरपियन समालोचक यह सहज में ही भूल जाते हैं कि जिस विशाल जन-समूह को वे मूक और अशिक्षित कहते हैं, उसमें भी अनेक उदार गुण वर्तमान हैं। उनकी अनजान के प्रति भद्रता और दयालुता से, उनके सामाजिक नियमों के पालन से, उनके स्वाभाविक

आदर्श प्रेम से, उनके धर्मों से—जो मनुष्य मात्र के भ्रातृत्व और जीवन की नित्यता का उपदेश देते हैं—इन सब सद्गुणों से इन "अशिक्षित" भारतवासियों के प्रजासत्तात्मक भावों का स्पष्ट रूप से परिचय मिलता है। किसी सहृदय अमेरिकन लेखक ने यथार्थ ही कहा है—"जो भारत की रैयत को भली भाँति जानते हैं, उन्हें इस बात का पता है कि संसार में कोई भी कृषक-वर्ग ऐसा नहीं है, जो मनुष्यता के गौरव को समझने में उनसे अधिक सहायता दे सके" भारत के किसानों के स्वभाव और गुण को समझना मनुष्य के गुणों की महिमा और अवधि को समझना है।

वे समालोचक, जो विना विचारे यह निर्धारित कर लेते हैं कि भारतभूमि पर प्रतिनिधि-संस्थाओं का संवर्धन नहीं हो सकता, यह भूल जाते हैं कि अँगरेज़ों की पार्लियामेंट के जन्म से सदियों पहले आर्य-शासन-प्रणाली का आधार ग्रामीण संस्थाएँ थीं, जिनमें प्रतिनिधित्व के सिद्धांत का समुचित उपयोग और सम्मान होता था। आर्यों ने राजनीतिक शिक्षा की अवहेलना नहीं की। योरपीय राजनीति में जो सर्वोत्तम तत्त्व है, वह वास्तव में आर्यों के धर्म और सदाचार नीति के उपदेशों का शासन-पद्धति में प्रयोग-मात्र ही है। मि० हेविल *

* आपने "भारत में आर्यराज्य (Aryan Rule in India)"-नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी है।

एक अँगरेज़ विद्वान् हैं। उन्होंने सहृदयता से भारतीय आदर्शों की विवेचना की है। उन्होंने सिद्ध किया है कि यह धारणा कि "राजनीति-विज्ञान में भारत ने अपने इतिहास के किसी भी युग में योरप की बराबरी नहीं की" तथा "स्वतंत्रता ने भारत पर अपनी छाया कभी नहीं प्रदान की" कितनी मूर्खतापूर्ण है! हेविल साहब ने यथार्थ ही दर्शाया है कि "भारत में अँगरेज़ी शासन की नीति अनैतिहासिक कपोल-कल्पित प्रमाणों के आधार पर स्थित है।"

जितना ही मैंने इस विषय का अध्ययन किया, उतना ही मेरा विश्वास सुदृढ़ होता गया कि प्रारंभ से ही भारत की प्रजातंत्र शासन पर अटल श्रद्धा थी। उस प्रजासत्ता में उन्नत उदार ध्येयों की प्राप्ति के लिये ही समता को स्थान मिला था, दुराचार और नीचता के लिये नहीं। प्राचीन भारत में राजनीति धर्म का अंग मानी जाती थी, अतएव उस समय आध्यात्मिक आदर्श देश-भक्ति को प्रेरित करते थे। हेविल का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है—

"जो सुख और स्वातंत्र्य अँगरेज़-जाति को पार्लियामेंट की संस्थाओं तथा संसार के सबसे अधिक धन-संपन्न राजस्व (आय) की सहायता से प्राप्त हुआ है, उसकी उस समृद्धि और स्वाधीनता से कदाचित् ही तुलना की जा सके, जो आर्या-

वर्त के निवासियों को ईसा की पाँचवी सदी के पूर्व और अनंतर प्राप्त थी।"

अनेक कारणों से, जिनका उल्लेख मैं समयाभाव से यहाँ नहीं करूँगा, भारत के बुरे दिन आए और उसका अधःपतन हुआ। मैं जानता हूँ कि सुदीर्घकाल से खोई हुई पुरातन गौरव-गरिमा को पुनः प्राप्त करने के लिये हमें कठिन नियमों का अनुशासन स्वीकार करना पड़ेगा। उस स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिये, जो संयोजन और निर्माण करती है, आत्मसंयम परमावश्यक है। किंतु इन नियमों का विधान स्वयं हमारे ही द्वारा होना चाहिए। इनकी रचना और शासन पर उस संस्था का कुछ भी अधिकार न हो, जो कि अपने कराल चक्र से हमारी सभ्यता और संस्कृति को निर्दय भाव से पीस रही है।

हमसे कहा जाता है कि "धीरे-धीरे, खंड-खंड करके, तुम्हें स्वराज्य दिया जायगा; जब तक तुम उसके योग्य नहीं बनते, तब तक चुपचाप ठहरो।" यह सब कपट और छल है। क्या कोई भी समालोचक यह कहने का साहस कर सकता है कि ग्रीस तथा बाल्कन प्रायद्वीप की जातियाँ (रोमानिया, सर्बिया, मोंटीनीग्रो तथा बलगेरिया के लोग) स्वाधीनता के लिये भारत से अधिक योग्य और उपपन्न थीं? यही युक्तियाँ लगभग ६० वर्ष पूर्व सुधार-विरोधियों ने इँगलैंड के जनसाधा-

रण को मताधिकार देने के विरुद्ध पेश की थीं। उस समय कहा गया था कि जनता उचित रूप से अपना मत देने में असमर्थ है। भूतपूर्व भारत-सचिव (स्वर्गीय) मांटेगू ने सर टामस मनरो का उल्लेख किया है। सर टामस ने यह घोषणा की थी कि "मैं उस समय की प्रतीक्षा कर रहा हूँ, जब कि भारतवासी यथेष्ट शिक्षा प्राप्त कर अपने देश की शासन-व्यवस्था का निर्माण तथा संचालन कर सकेंगे।" इन शब्दों को कहे हुए १२५ वर्ष से अधिक बीत गए। समाज-शास्त्र-पारंगत एक अँगरेज़-विद्वान् का कथन है कि "किसी भी देश की कायापलट करने के लिये एक पीढ़ी का समय पर्याप्त है।" फिर भी आज १२५ वर्ष के बाद, यही कहा जाता है कि भारत में प्रजातंत्र-स्वराज्य की स्थापना धीरे-धीरे, क्रम-क्रम से, होनी चाहिए।

"एशिया का एलान"-नामक पुस्तक में भारतवासियों के वराज्य-स्वप्न पर टीका करते हुए एक अँगरेज़-लेखक ने साफ़-साफ़ कहा है कि "भारतवासियों का स्वराज्य-स्वप्न न इस पीढ़ी में, न दूसरी पीढ़ी में, वरन् कदाचित् चौथी पीढ़ी में प्रत्यक्ष हो सकेगा।" तब तक देश की क्या दशा होगी? उस समय तक देश का अस्तित्व ही कहाँ रहेगा? तब तक तो नौकरशाही शासन, भारत को बिलकुल पौरुषहीन और मृतप्राय बना देगा। स्वातंत्र्य से ही पुरुषार्थ है, बिना स्वातंत्र्य

पुरुषार्थ का अस्तित्व ही अस‍ंभव है। लॉर्ड बर्केन हेड (१९२४ से १९२८ तक भारत-सचिव) प्रभृति साम्राज्यवादी किसी तरह समय टालना चाहते हैं। वे कहते हैं—"हाँ, तुम्हें स्वराज्य अवश्य मिलेगा, किंतु अभी तुम उसके योग्य नहीं हुए, कुछ वर्ष ठहरो, तब देखा जायगा।" प्रतीक्षा करने का, चुपचाप ठहरे हुए भिक्षा की याचना करने का, उपदेश देनेवाले सारे सिद्धांत घृणित और निंदनीय हैं। किसी विख्यात वैद्य ने कहा है—"पेट के बल चलना, धीरे-धीरे कष्ट से ढुरकना ही, प्राणनाशिनो गति है।" जितनी ही अधिक देर भारत को वराज्य के लिये ठहरना पड़ रहा है, उतनी ही जल्दी देश का पौरुष नष्ट हो रहा है। दासता में रहते हुए पुरुषार्थ की वृद्धि असंभव है। वह विचार जो "अभी नहीं, ठहरो" की राजनीति को पुष्ट करता है, स्पष्ट रूप से साम्राज्यवाद की अनुदार मति से प्रेरित है, उस पर वातंत्र्य प्रेम की छाया तक नहीं पड़ी। "हे भारतवासियो ! हम तुम्हारे प्रभु हैं, जब तुम हमारे सामने यह साबित कर दोगे कि तुम स्वराज्य के योग्य हो, तभी तुम्हें स्वराज्य मिलेगा" यह उस अहमिति-पूर्ण विचार की ध्वनि है। वैसी योग्यता, जो इस उद्धत परदेश का धन हरण करनेवाले साम्राज्यवाद को स‍ंतोष दिला सके, उसके सम्मुख कदापि प्रमाणित नहीं की जा सकती। इँगलैंड का प्रमुख पत्र मार्निंग पोस्ट कहता है—

"भारत से हमारा स्वार्थ प्रत्यक्ष है, क्योंकि संसार में विदेशी सामान ख़रीदनेवाला सबसे बड़ा देश भारत ही है। हमारे देश का बना हुआ सामान विशेषकर भारत ही में बेचा जाता है, अन्य देशों में नहीं।"

साम्राज्यवाद का यही मुखपत्र इन शब्दों में भारत के अँगरेज़ी शासन के आधार की व्याख्या करता है—

"हम तुम्हारी (भारतवासियों की) रक्षा करते हैं, और तुम हमारे यहाँ का बना हुआ सामान ख़रीदते हो। कोई कुछ भी कहे, आख़िर ब्रिटिश-जाति को जीवित रखना ही पड़ेगा।"

यदि भारत की लूट पर ही साम्राज्य का जीवन निर्भर है, तो हम इँगलैंड से, कभी भी, स्वराज्य की आशा कैसे कर सकते हैं ? प्रसिद्ध अँगरेज़ लेखक सर वेलिंटाइन शिरोल बड़ी गंभीरता से यह तर्क उपस्थित करता है कि "भारतवासियों को यह जानना चाहिए कि स्वराज्य की अपेक्षा अँगरेज़ी राज्य श्रेष्ठतर है"। आधुनिक बुद्धि और विचार की यह कितनी मिथ्या व्याख्या है। लॉर्ड बर्केनहेड और लार्ड रीडिंग (भारत के भूतपूर्व वाइसराय) कहते हैं कि "सुधार मिलने से पहले अशांति और आंदोलन का लोप हो जाना चाहिए"। अर्वाचीन इतिहास की यह कितनी भ्रमपूर्ण कल्पना है। प्रत्येक जाति को यह अधिकार है कि वह अपनी स्थिति से असंतुष्ट रहे। यही

असंतुष्टि स्वाधीनता की जननी है। किंतु उद्धत साम्राज्यवादी कहते हैं—"नहीं, हम भारत के पालक और रक्षक हैं।" यही युक्ति लॉर्ड ओलिवियर (मज़दूर-मंत्रि-मंडल के भारत-मंत्री और लॉर्ड-सभा में मज़दूर-दल के नेता) ने भी पेश की थी। आपने कहा था—"सुधार-योजना के आकार, नीति तथा उद्देश्य को अविकल रखना आवश्यक है।" इँगलैंड के एक प्रसिद्ध समाचार-पत्र "संडे टाइम्स" ने तो यहाँ तक साफ़-साफ़ कह दिया कि "यदि भारत के नेता इस सुधार-योजना का प्रयोग नहीं करेंगे, तो हम, कभी भी, उन्हें वापस ले सकते हैं" अर्थात् (१९१९ से) पहले की तरह निरंकुश शासन स्थापित कर सकते हैं। दूसरे विख्यात पत्र "टाइम्स" ने कहा कि "हमारा अभिप्राय भारत पर शासन करने का है। हमें वहाँ से कोई शीघ्रता से निकाल बाहर नहीं कर सकता। हम भारत में अवश्य रहेंगे और उसकी राजनीति के निर्णय में हमारा प्रबल प्राधान्य रहेगा।"

किंतु मैं भूलता हूँ। क्या हेस्टिंग्ज (१७७३-८४) और डलहौसी (१८४८-५६) आदि अँगरेज-शासकों ने अपने को प्रभु का भक्त नहीं कहा था? लॉर्ड बर्केनहेड और लॉर्ड रीडिंग भारत से एक उदार-सहृदय दृष्टिकोण की चाहना करते हैं। लॉर्ड रीडिंग ने अपने भाषण में कहा था कि "कभी

कभी मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि भारत की राजनीतिक बुद्धि ने इँगलैंड का मैत्री के लिये बढ़ाया हुआ हाथ दौड़कर क्यों नहीं पकड़ा। यदि भारत ने प्रतियोग प्रदान किया होता, तो सात समुद्र पारकर वह उदार भाव इँगलैंड में फैल जाता, जिससे भारत के प्रति वहाँ का दृष्टिकोण बिलकुल बदल जाता।" लॉर्ड रीडिंग इतिहास को भूलते हैं। विदेशी शासन की राजनीति में दानशीलता तथा उदारता को कब-कब स्थान मिला है? कब किस राष्ट्र ने दूसरे राष्ट्र के प्रति अपने व्यवहार में परोपकारिता तथा निःस्वार्थता का परिचय दिया है? साम्राज्यवाद में लोकहितेच्छा कब-कब रही है? लॉर्ड रीडिंग ने कहा—"उदारता उदार प्रतियोग से और भी अधिक उदार बन जाती है।" इँगलैंड का भारत को दिया हुआ "उदार उपहार" कुछ भी हो, किंतु वह स्वराज्य कदापि नहीं हो सकता। ऑक्सफोर्ड मजलिस में मजदूर-दल की नीति का समझाते हुए लॉर्ड ओलिवियर ने कहा था—"किसी भी ब्रिटिश मंत्रि-मंडल की यह सामर्थ्य नहीं कि वह भारत की स्वराज्य की माँग को तत्काल पूरा कर सके।"

यह साफ और जोरदार कथन है। हमारे वे देश-भाई, जो इँगलैंड के मजदूर-दल की सरकार से स्वराज्य की आशा करते हैं, अपने भ्रम को समझें और सावधान हो जायँ। हममें

से अधिकांश लोग राजनीति के एक सामान्य सिद्धांत को भूल जाते हैं। लॉर्ड मोरले (इँगलैंड के लिबरल-दल का एक नेता) ने इन सारगर्भित शब्दों में उसका निदर्शन कराया है— "भारत की परिस्थिति स कटापन्न नहीं है। अतएव हमें कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है।" असहयोग के युग में जो कठिन परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी, उसी के भय से अँगरेज़-सरकार थोड़े-से अधिकार देने को प्रस्तुत हुई थी। किंतु दो-एक अधिकार दे देना एक बात है, स्वराज्य देना दूसरी। रियायत और आज़ादी में बहुत अंतर है। सच्ची स्वाधीनता अन्य राष्ट्र की अनुकंपा से, उपहार द्वारा, प्राप्त नहीं होती। सच्ची, वास्तविक स्वतंत्रता वही है, जिसकी सिद्धि देश स्वयं ही करता है।

मेरा विश्वास है कि भारत के भीतर प्रबल शक्ति छिपी हुई है। भारत निद्रा-ग्रस्त नहीं है, संसार की स्थिति पर उसने अपनी दृष्टि डाली है। उसमें क्षमता है, उसे अपने भविष्य में दृढ़तर श्रद्धा रखनी चाहिए। भारत को उचित है कि भिक्षा अथवा दान की तरह स्वराज्य की प्रतीक्षा व याचना न करे। सब प्रकार का उपहार उपकृत मनुष्य की नैतिक शक्ति को क्षीण कर देता है। भारत आत्मबोध की साधना करे; क्योंकि "स्वावलंबन" ही स्वराज्य है।

शक्ति-धर्म

देश को आवश्यकता है शक्ति की, नवीन विधि से पूजा की। ऋग्वेद में ईश्वर को "बलदा" बल देनेवाला कहा है। भारत के महापुरुषों ने ब्रह्म-विद्या को आध्यात्मिक पृथक्करण नहीं, बरन् शक्ति तथा स्फूर्ति मानकर उच्च स्थान दिया था। श्रीराम, महाराज प्रियदर्शी अशोक (२७२-३२) तथा गुप्तवंश के राज्यकाल (३२०-४७०) में भारत ने अपने आध्यात्मिक सिद्धांतों और आदर्शों को भौतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं में अवतरित करने का प्रयत्न किया था। श्रीराम शक्ति के उपासक थे। रामायण में हम पढ़ते हैं कि अगस्त्य ऋषि ने राम को सूर्य भगवान् की पूजा करने की सलाह दी थी। सूर्य शक्ति की प्रतिभा है। सूर्य ही से वह शक्ति आती है, जो इस भूमंडल को जीवित रखती है। श्रीराम का युग समृद्ध और संस्कृत-सभ्यता का काल था। उस समय, युद्ध तक में, धार्मिक नियमों का पालन किया जाता था। युद्ध में सैनिकों को कृषि का विनाश करने तथा कृषक जनों को किसी प्रकार की हानि पहुँचाने की अनुमति कदापि नहीं दी जाती थी। ऐसा व्यवहार सर्वथा निंदनीय समझा जाता था। धर्म-शास्त्र का अनुशासन

था कि किसी भी पक्ष के सैनिकगण, किसान, संन्यासी, शिल्पी, अबला, दीन-ग़रीब आदि को तनिक भी कष्ट न दें। उस युग में सस्थानिक शासन-पद्धति (Constitutional Government) अज्ञात नहीं थी। जब महाराज दशरथ की इच्छा हुई कि राम उनके उत्तराधिकारी बनें और उन्हें युवराज-पद मिले, उस समय महाराज दशरथ को राजसभा की सम्मति और अनुज्ञा लेनी पड़ी थी; क्योंकि ऐसा किए विना उनका मनोरथ पूरा नहीं हो सकता था।

सुकुमारता और शिथिलता ने इस देश को पराधीन बना दिया, किंतु पराधीन होने से पूर्व भारत शक्ति का उपासक था। असंख्य प्रमाण मौजूद हैं, जिनसे हमें यह पता मिलता है कि सैकड़ों नर-नारी तथा बालक-बालिकाएँ भारत की इज़्ज़त बचाने के लिये उत्कंठित और तत्पर रहते थे। आर्यावर्त के पुरोहित, उपदेशक तथा परिव्राजकगण ग्रामों में रामायण और महाभारत का पाठ करते थे, जिससे जनता के हृदय में पुरुषार्थी गुणों का प्रभाव अंकित होता था।

न केवल पुरुषों की, वरन् स्त्रियों की वीरता के भी असंख्य उदाहरण मिलते हैं। उन २०० सिख वीरांगनाओं की कथा को पढ़ो, जिन्होंने हज़ूरसाहब-नामक मंदिर की रक्षा की थी। उस मंदिर पर शत्रुओं ने आक्रमण किया; सिख लोग उसे

छोड़कर भागने लगे। किंतु इन वीर महिलाओं ने मंदिर की रक्षा के लिये कमर कसी। वे स्वयं सेविकाएँ बनीं, और घोड़ों पर सवार होकर घंटों तक युद्ध करती रहीं। मंदिर की रक्षा हुई; शत्रु हारकर भाग गए।

"हम इस अनजान देश में अपने प्रभु का गुणगान कैसे करें?" वैबिलोन की नदियों के किनारे बैठकर इस प्रकार हिब्रू लोगों ने विलाप किया था। वे सिर पर हाथ रखकर बैठ गए, और जियोन (अपने देवता) का स्मरण कर रोते रहे।

हम भी भगवद्गीत जानते हैं, पर उसे कौन गावेगा? राष्ट्रों को उस संगीत की आवश्यकता है, पर उसे गावेगा कौन? क्या हमारे लिये हमारे पूर्वजों का देश आज विदेश नहीं है?

उस दिन एक अँगरेजी-समाचार-पत्र ने लिखा था—

"सारे विशाल ब्रिटिश-साम्राज्य में सबसे अधिक दारुण और विस्तृत दरिद्रता, सबसे भीषण प्राणांतक रोग, सबसे करुण और भयंकर अज्ञानता, सबसे अल्पकालीन और अनिश्चित जीवन भारतवर्ष में ही पाया जाता है।"

वह देश, जहाँ पर परमात्मा का पावन संगीत गूँजता था, दारिद्र्य, रोग और अविद्या का क्षेत्र कैसे बन गया?

उसका जीवन की चेतनता से संबंध टूट गया। उसने

निर्बलता को ही नम्रता मान लिया और भ्रम से अहिंसा का अर्थ उदासीनता तथा स्थितिपालकता समझ लिया।

जब मुहम्मद बिनकासिम के नेतृत्व में (७१२ ई० में) अरबों ने सिंध पर आक्रमण किया, तब सिंध के हिंदू-राजा ने अपनी प्रजा से आग्रह किया कि वह अपने देश को आततायियों से बचावे। किंतु बहुत-से सिंधी बौद्ध हो गए थे। उन्होंने राजा की पुकार पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और भिक्षु के पीत परिधान को ही सैनिक की पोशाक से अधिक श्रेयस्कर समझा। फलतः सिंध पर विदेशी अरबों का अधिकार हो गया।

सिंध-वासी अपनी स्वार्थ प्रधान मुक्ति की चाह में निरत थे। उन्हें मातृभूमि की लेशमात्र भी चिंता नहीं थी। जो कथा सिंध की है, क्या वही कथा समस्त भारत के अधःपतन की नहीं है ?

इस संबंध में हम बौद्ध-प्रमाणों की साक्षी उद्धृत करते हैं—

"हे वशिष्ठ ! एक समय आया, जब कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, सबोंने अपने-अपने उचित कर्तव्यों को तिलांजलि दे दी और बौद्ध-भिक्षु बनने की इच्छा से संसार को त्याग दिया।"

हिंदू-जातियाँ इतनी निर्बल हो गईं कि वे मुसलमानों के आक्रमण को न रोक सकीं। यद्यपि ये मुसलमान असभ्य और

अशिक्षित थे, फिर भी इनमें बल था, और इसीलिये वे प्राचीन हिंदू-जाति को परास्त कर सके। इसी तरह प्राचीन सुसभ्य रोमन-जाति पर बर्बर-जातियों ने विजय पाई थी। इन बर्बरों में बुद्धि नहीं थी, परंतु शारीरिक बल का बाहुल्य अवश्य था।

हमारे देशवासी सुदीर्घ काल से मुक्ति की पुकार कर रहे हैं। अब समय आ गया है उनसे यह निवेदन करने का कि बिना शक्ति के यथार्थ मुक्ति असंभव है।

स्वर्ग का राज्य बलवानों के लिये है। उसके द्वार पर आग्नेय-अक्षरों में लिखा हुआ है—"जो निर्बल है, वह भीतर न आवे।"

आधुनिक भारत को आवश्यकता है शक्ति-संदेश की, पुरुषार्थ-धर्म की। साथ-ही-साथ हमारे राजनीतिज्ञों को भी यह भली भाँति ज्ञात हो जाना चाहिए कि निरी बातों, तर्कों तथा प्रार्थना-पत्रों द्वारा कदापि स्वराज्य की प्राप्ति नहीं हुई। बिना शक्ति के स्वराज्य असंभव है। राष्ट्रीय शक्ति की वृद्धि कैसे हो? देश का बल किस प्रकार सुसंगठित किया जाय? सबल और स्वावलंबी बनने के लिये हमें कौन-सा कार्य-क्रम स्वीकार करना चाहिए? ये ही प्रश्न वे लोग आज अपने से पूछें, जिन्हें स्वराज्य की सच्ची लगन लगी है। आज से १७० वर्ष पहले क्लाइव ने पलासी के युद्ध में विजय प्राप्त कर बंगाल पर

अधिकार जमाया और भारत में अँगरेजी-शासन की नींव डाली। सन् १७७४ में क्लाइव ने आत्महत्या कर ली। भारत को अँगरेज़ों के अधीन रहते हुए १७० वर्ष बीत गए, फिर भी उसकी जैसी-की-तैसी अधोगति है। १७० वर्ष! जापान को प्रबल प्रतापी राष्ट्र बनने में ५० वर्ष से कम समय लगा। किंतु भारत? १७० वर्ष के अनंतर भी हम वार्तालाप और तर्क-वितर्क के क्षेत्र से आगे नहीं बढ़ सके। जापान अपनी शक्ति का विकास कर महत् बना। शक्ति ही से महत्ता की उत्पत्ति है। ब्रिटिश-कर्मचारियों में भी कुछ शक्ति अवश्य है, जिससे वे इस विस्तृत देश को पराधीनता में जकड़े हुए हैं। नौकरशाही-शासन निरे पशुबल का यंत्र नहीं है। क्या हम उसकी क्षमता का सामना किसी श्रेष्ठतर शक्ति के साथ कर सकते हैं?

योरप की परिस्थिति का अवलोकन करो। वहाँ अनेक नूतन स्वाधीन राष्ट्रों का जन्म हुआ है। ज़ेकोस्लोवाकिया, जूगोस्लाविया, पोलैंड, लिथुआनिया, एस्थोनिया, लाटविया, अल्बानिया (Albania) सब छोटे-छोटे राज्य हैं, फिर भी स्वतंत्र, स्वाधीन हैं।

पूर्वीय देशों की परिस्थिति को देखो। जापान ने अपनी काया-पलट कर ली है। चीन में क्रांति हो रही है। अफ़-

ग़ानिस्तान ने नवीन स्वाधीनता के युग में प्रवेश किया है। अंगोरा ने अपने गौरव की रक्षा की है। ईजिप्ट प्रायः स्वाधीन हो चुका है।

बड़े-बड़े राष्ट्रों ने और छोटे-छोटे देशों ने स्वत्वाधिकार प्राप्त कर लिए हैं। किंतु भारत को अभी तक उन निस्सत्व सुधारों से अधिक कुछ भी नहीं मिला, जिनके कारण उस पर कर और दमन की मात्रा और भी अधिक तथा निर्दयी होगई है।

किसी नवयुवक ने पूछा—"क्या कारण है कि भारत की उन्नति नहीं होती?" उत्तर में दूसरे ने कहा "खिन्न नैराश्य", तीसरे बोले "भेद-भाव के लक्षण"। किंतु मेरा निवेदन है कि इन सबकी जड़ शक्ति-हीनता ही है। हमारे अधिकांश राष्ट्रीय विद्यालय बंद हो गए। देश ने अब तक भी पूरी तौर से खादी को नहीं अपनाया। अँगरेज़ी कपड़े के बहिष्कार की गति अत्यंत धीमी और असंतोषजनक है। सर्वत्र निर्बलता ही दृष्टि-गोचर हो रही है।

यह हमें कदापि भूलना नहीं चाहिए कि चाहे जो कुछ हो, अंत में हमारा स्वराज्य-प्राप्ति का प्रयास उतना ही सफल होगा, जितना हमारा आंतरिक साहस और बल है। इँगलैंड को इतना ऐश्वर्य और प्रभुत्व किसने दे रक्खा है? केवल यंत्रों के आविष्कार ने नहीं, इँगलैंड में शक्ति भी है।

जब इस आंतरिक शक्ति का अपहरण होता है, तभी अधःपतन प्रवेश करता है। अनुकरण पतन की निशानी है। अनुकरण बाह्य है, मिथ्या है। पाश्चात्य संस्कृति में बहुमूल्य विचार और प्रेरणाएँ भरी पड़ी हैं। उस सभ्यता में राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन के मार्मिक सिद्धांत भी वर्तमान हैं। परंतु हम इनकी तो चाहना नहीं करते, प्रत्युत वहाँ के विचार और जीवनचर्या जो मिथ्या और अधम हैं, उन्हीं के पीछे दौड़ रहे हैं। यह अंध अनुकरण है। बाह्य तथा अधम से बचकर अन्य देशों और जातियों में विद्यमान नैसर्गिक सत्य का अभिनंदन करने के लिये भी शक्ति की आवश्यकता है।

पश्चिम ने बड़े वेग के साथ पूर्व पर आक्रमण किया है, परंतु इससे हमें हत-बुद्धि और अधीर नहीं होना चाहिए। भय ही मृत्यु का कारण है।

हम पाश्चात्य का त्याग और निराकरण नहीं कर सकते। हमें उसे समझना ही पड़ेगा। अतएव हमें आत्मबोध की आवश्यकता है।

अब तक हम पाश्चात्यता से केवल बाह्य क्षेत्रों में ही मिलते रहे हैं; क्योंकि अब तक भी हमने स्वदेश की अंतरात्मा को नहीं पहचाना है। बलवानों के अतिरिक्त कोई भी उस अंतरात्मा की खोज नहीं कर सकता।

हाल ही में प्रकाशित एक चीनी नाटक का एक पात्र—एक चीनी भद्र पुरुष—हाथ में टूटा, फटा-पुराना छाता लिए हुए दिखलाया गया है। उससे एक नवयुवक पूछता है—"आप इस टूटे-फटे छाते को लेकर क्यों चलते हैं? आप जापानी सामान की किसी दूकान पर जाकर एक सुंदर नया छाता क्यों नहीं ख़रीद लेते?" वह चीनी भद्र पुरुष इन प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार देता है—

"जापान ने मेरे प्यारे देश का सत्यानाश कर दिया है। यह छाता मेरे जीर्ण देश का प्रतिरूप है। चीन का उद्धार करने के हेतु दो बातों की आवश्यकता है—पहली, हम केवल स्वदेशी वस्तुएँ ही ख़रीदें; दूसरी, हम सब स्वदेश की रक्षा के लिये संगठित हो जायँ।" भारत के लिये यह आख्यान शिक्षाप्रद है।

संसार-शक्तियाँ भारत की ओर अग्रसर हो रही हैं। भारत उनसे विलग नहीं रह सकता।

यह प्रवाह अत्यंत दुर्वार है। सारे बाँध टूट रहे हैं। कोई भी सरकार इस बढ़ते हुए प्रवाह को नहीं रोक सकती।

ये लहरें हमारी व्याधि को दूर करने के लिये आ रही हैं, यदि हम उनका सदुपयोग कर सके। यदि हम भय के कारण

दूर खड़े रहें अथवा उनके साथ सहयोग करने के लिये तैयार न रहें, तो हम स्वयं इन विशाल लहरों में डूबकर विलीन हो जायँगे।

जिस स्वराज्य को देने मे अँगरेज़-राजनीतिज्ञ नाहीं अथवा विलंब कर रहे हैं, उसकी गति संसार-शक्तियों के प्रभाव से अबाध्य और अनिवार्य हो जायगी। किंतु मुख्य प्रश्न यह है—"हम इन संसार-व्यापी शक्तियों से सहयोग करने के लिये क्या आयोजन कर रहे हैं ?"

वे शक्तियाँ सर्वत्र दीन-ग़रीबों के प्रति बंधु-भाव की पुकार कर रही हैं। इस पुकार के उत्तर में हम कौन-कौन कार्य कर रहे हैं ?

स्वराज्य की एक भव्य भावना का दिग्दर्शन उस सिख-ग्रंथ में कराया गया है, जिसमें श्रीगुरु गोविंदसिंह का वृत्तांत है। गुरु गोविंदसिंह संत और योद्धा थे। उन्होंने स्वतंत्रता के लिये युद्ध किया और भारतीय इतिहास के एक संकटकाल में स्वदेश की रक्षा की। एक विख्यात सिख-सरदार गुरु के पास आता है और पूछता है—"सच्चे ख़ालसा (सिख) में कौन-कौन-से गुण होना चाहिए ?" गुरु उत्तर देते हैं—"सच्चे ख़ालसा को ईश्वर से शक्ति प्राप्त होती है, जब कि वह अपना सर्वस्व पीड़ित और दलित की सेवा में अर्पित कर देता है। उस

सच्चे सिख के लिये पराजय का कोई अर्थ नहीं है, पराजय को वह विजय की सीढ़ी समझता है। उद्देश्य और सिद्धांत ही उसके लिये सब कुछ हैं। वह इन्हीं के अनुसार कर्म करता है। परिणाम क्या होगा, इसकी चिंता उसे नहीं सताती; क्योंकि वह जानता है कि मैं सत्य के लिये युद्ध कर रहा हूँ और सत्य की, ईश्वर के समान, सदा सर्वत्र विजय निश्चित है।" उपर्युक्त शब्दों में उन गुणों का उत्तम वर्णन है, जिनकी हमें शक्ति-संवर्धन के लिये परमावश्यकता है। ऐसे ही (सच्चे ख़ालसा के समान) नवयुवकों के दलों में स्वराज्य-शक्ति का वास होता है। हमने दीन, दुखी और दलित से मुख मोड़ लिया है। इनको फिर से अपनाओ; क्योंकि वही संसार को सुखी बनाते हैं।

बंगाल के एक मध्यकालीन कवि की निम्न-लिखित कविता से आधुनिकता की ध्वनि निकलती है—

"उस मनुष्य को विधिवत् पूजा करने से, यज्ञ की अग्नि प्रज्वलित करने से, अथवा तपश्चर्या में ध्यान लगाने से, क्या फल मिलेगा? यदि उसमें दीन और असहाय के प्रति प्रेम का अभाव है।"

हमारी गूढ़ आंतरिक शक्तियों का उद्धार बड़े-बड़े चमत्कारों द्वारा नहीं, मत-मतांतरों की कलहों के द्वारा नहीं, वरन् सरल जनों

की सीधी-सादी सेवा द्वारा ही होगा। जब भारत का शक्ति-रूप में पुनः अवतार होगा, तब वह मानव-जाति के इस नवयुग में नूतन स्वाधीनता का निर्माण करेगा।

एक अँगरेज-यात्री मुझे करांची में मिला। उसने कहा—"मेरे हृदय पर बहुत गहरा प्रभाव इस बात का पड़ा है कि भारत में कोई भी दीन-ग़रीब की चिंता नहीं करता।" नौकर-शाही सरकार और हिंदू-समाज, दोनों ही ने ग़रीबों की दिव्यता को पद-दलित किया है। थोड़े दिन हुए, जब शिकारपुर में कुछ भंगी भाई मुझसे मिले। उनके मुखिया ने कहा—"आप दीनों के प्रति बंधुभाव की बात करते हैं; परंतु आपका समाज हमसे घृणा करता है। मुसलमान लोग हमें गले से लगाने और सद्व्यवहार करने के लिये तैयार हैं।" इस अभियोग को खंडित करने के लिये मेरे पास कौन-से सच्चे प्रमाण थे? मैं उन्हें क्या कहकर संतोष दे सकता था? एक समय भारत उन्नति के शिखर पर आसीन था। इसका पतन उसी दिन हुआ, जिस दिन इसने दीनों के विरुद्ध पाप किया। जब से जातीय अहंकार का भाव पैदा हुआ, तभी से हिंदू-समाज निस्सत्व हो गया। श्रीकृष्ण के संबंध में कहा गया है कि उन्हें अपने अनेक नामों में से 'दीन-बंधु' ही सर्वप्रिय लगता था। परमात्मा दीन-अनाथ के उदार बंधु हैं। इन्हीं दीन-ग़रीबों का

हमने तिरस्कार और बहिष्कार किया है। इसीलिये आज स्वयं हम भी संसार के प्रतापशाली राष्ट्रों की पंक्ति से निर्वासित और बहिष्कृत कर दिए गए हैं।

वह दिन शीघ्र आवे, जब कि स्वराज्य-सभा तथा अन्य सभाओं के सभापति का आसन अछूत ही ग्रहण करें। इन लोगों में भी बड़े-बड़े महात्मा और भारतीय आदर्श के भक्त हुए हैं। मैं ऊपर कह चुका हूँ कि आर्य-प्रजा-सत्ता का आधार धर्म ही था। उसकी स्थापना जनता के किसी भाग की दासता पर निर्भर नहीं थी। आर्य-राजनीति में प्रत्येक व्यक्ति को स्वत्वाधिकार दिए गए थे। आर्यों के समाज में केवल द्विजों को ही नहीं, वरन् उनके आदर्श को अंगीकार करनेवाले हरएक मनुष्य को स्थान प्राप्त था। वैदिक ऋषि किसी मनुष्य को अस्पृश्य नहीं मानते थे। जगद्विख्यात जर्मन-विद्वान् मेक्समूलर इन शब्दों में उपर्युक्त कथन की साक्षी देता है—

"वैदिक मंत्रों में जाति-पाँति की जटिल प्रथा के अस्तित्व का प्रमाण कहीं नहीं मिलता। शूद्रों की पतित अवस्था के लिये वेद में कोई अनुमति नहीं है। वेदों में कोई भी विधान ऐसे नहीं पाए जाते, जो सहवास, सहभोज व सहपान का निषेध करते हों, जो भिन्न-भिन्न जातियों में पारस्परिक विवाह-संबंध के विरोधी हों, अथवा जो ऐसे विवाह द्वारा

उत्पन्न संतान पर अमिट कलंक का टीका लगाने के पक्षपाती हों।"

शूद्र-शब्द का मूल अर्थ है "वह मनुष्य, जो शोक को सहता और द्रवीभूत हो जाता है, अर्थात् वह जिसे छोटी-छोटी बातें विह्वल और अधीर कर देती हैं"। अतः शूद्र-शब्द से कुछ विशेष लक्षणों का बोध होता है और ये लक्षण सब जातियों में पाए जा सकते हैं। पातंजलि के महाभाष्य में लिखा है—

"तपस्या, ज्ञान और जन्म, इन्हीं तीन संस्कारों से मनुष्य ब्राह्मण बनता है। किंतु जिसमें प्रथम दो गुणों (तपस्या और ज्ञान) का अभाव है, वह केवल नाम-मात्र को ही ब्राह्मण है।"

महाभारत में ये सारगर्भित श्लोक पाए जाते हैं—

"अखिल ब्रह्मांड ब्रह्मा की संतान है; जाति-भेद पूर्णतया निराधार है।"

"जन्म से प्रत्येक मनुष्य शूद्र उत्पन्न होता है। संस्कार के अनंतर ही वह द्विज बनता है।"

नारद-पंचरात्र में कहा है—

"श्वपचोऽपि महीपाल ! विष्णुभक्तो द्विजाधिकः ;
विष्णुभक्तविहीनो यः यतिश्च श्वपचाधिकः।"

अर्थात्—"हे राजन् ! यदि कोई चांडाल भगवान् का भक्त हो, तो वह द्विज से श्रेष्ठ है। विष्णु-भक्ति से रहित यति चांडाल से कहीं अधिक नीच है।"

हरिभक्ति-विलास में लिखा है—

"शूद्रं वा भगवद्भक्तं निषादं श्वपचं तथा ;
वर्ज्जिते जातिसामान्यत् स याति नरकं ध्रुवम्।"

अर्थात्—"जो भगवद्भक्तों में नीच जाति की उपेक्षा करता है, चाहे वह भक्त शूद्र, निषाद अथवा चांडाल ही क्यों न हो, वह अवश्य ही नरकगामी होता है।"

ऋषिगण विविध जातियों में पैदा हुए थे। महर्षि व्यास का जन्म धीवर-कन्या के गर्भ से हुआ था। किंतु इन सब बातों के लिये (जाति-भेद और अस्पृश्यता के विरुद्ध) शास्त्र और पुराणों के प्रमाण उपस्थित करने की क्या आवश्यकता है ? क्या इसके लिये अंतःकरण में विराजमान शास्त्र की अनुमति पर्याप्त नहीं है ? क्या यह जानना यथेष्ट नही है कि भारत-माता ही इन अछूतों की भी माता है ?

क्या वह देश, जिसमें सात करोड़ अछूत हों, कभी भी कृत-कृत्य हो सकता है ? और, जब ये सात करोड़ अविद्या, दरिद्रता तथा विविध व्याधियों से पीड़ित अवस्था में पड़े हों, तब तो यह और भी कठिन है !

किसी उत्सव में भगवान् कृष्ण ने जलपात्र माँगा। उनके सेवकगण शीघ्र ही सुंदर उज्ज्वल जलपात्र ले आए। किंतु भगवान् ने उन बहुमूल्य पात्रों को वापस कर दिया और कहा—"मैं टूटे-फूटे पात्र में जल पीता हूँ।" ये दलित और अछूत ही, जो शताब्दियों से पीड़ित हैं, भगवान् के भग्न पात्र हैं, और जब तक हम उन्हें भगवान् के पात्र मानकर उनका आदर करने की नम्रता नहीं सीखते, तब तक हमारी स्वतंत्रता के आनेवाले उत्सव में परमात्मा कदापि नहीं पधारेंगे।

कितने आश्चर्य का विषय है कि जिस देश के सिद्ध और महात्माओं ने बार-बार 'तत्त्वमसि' के मंत्र की घोषणा की थी, उसी देश में लाखों मनुष्य 'अछूत' कहकर अपमानित किए जा रहे हैं।

एक प्राचीन धर्म-ग्रंथ में हम ब्राह्मण-बालिकाओं द्वारा श्रीकृष्ण की पूजा का वृत्तांत पढ़ते हैं। वे भगवान् को सृष्टि-कर्ता, परमेश्वर, दुष्ट-दलन आदि अनेक नामों से संबोधन करती हैं; किंतु जब तक वे उन्हें दीनबंधु नहीं कहतीं, तब तक भगवान् प्रसन्न नहीं होते। जिस देश के ऋषि-मुनियों ने अनेक में एकता का उपदेश दिया है, जिस देश के राजनीति-विशारदों ने बार-बार राजा से सदैव सरल बनने, प्रजा से मैत्री स्थापित करने तथा दीन जनों का कभी भी तिरस्कार न करने का आग्रह किया

है, उसी देश में रहते हुए हम दीन-ग़रीबों का दमन कर रहे हैं।

आर्य-नीति में जाति को नहीं, वरन् वर्ण को स्वीकृति दी गई है। कुछ लोग 'सूत-पुत्र' कहकर वीर कर्ण पर आक्षेप करने लगे। यह सुनकर दुर्योधन ने कहा—"विक्रम की परीक्षा वंश से नहीं, कर्म से होती है। वीरता से ही, न कि कुल के गर्व से, मनुष्य वीर कहलाता है। कर्ण अपने विक्रम से अपने को क्षत्रियों और राजों के तुल्य प्रमाणित कर चुके हैं। अतएव अब मैं उन्हें अंग-देश का अधीश्वर घोषित करता हूँ।" उसी स्थान पर सारथि-पुत्र कर्ण का राज्याभिषेक किया गया। जातीय अहंकार आर्यों का बनाया हुआ नहीं है, तथापि आर्य-राजनीति बार-बार जातीय—शासन के—आधिपत्य से पीड़ित हुई। इसीलिये भारत के दीर्घकालव्यापी इतिहास में अनेक बार भ्रातृ-भाव के उपदेशकों को अवतार लेना पड़ा। जब भारतवासी वेदों के दिव्य ज्ञान को भूल गए और उन्होंने दीन-ग़रीबों के मानवी अधिकारों को पद-दलित कर दिया, तब बुद्धदेव दया-धर्म का संदेश लेकर संसार में आए। बुद्धदेव शूद्रों के प्रबल रक्षक थे। उनके संबंध की एक मनोहर कथा इस प्रकार है। एक समय महात्मा बुद्ध किसी नाई के घर के पास से जा रहे थे। उस नाई ने पूछा—"हे प्रभु, क्या मैं आपसे कुछ कह सकता हूँ?" बुद्धजी

बोले—"अवश्य।" तब नाई ने पूछा—"क्या मैं भी निर्वाण प्राप्त कर सकता हूँ ?" बुद्धजी ने उत्तर दिया—"अवश्य।" इस पर उस नाई ने कहा—"तो क्या मैं आपका अनुचर हो जाऊँ, जिससे सदैव आपकी सत्संगति में रह सकूँ ?" भगवान् बुद्ध ने कहा—"हाँ।" उस नाई को बुद्धदेव के इस असीम प्रेम पर विस्मय हुआ। बहुत-से शूद्रों की बौद्ध-धर्म से शांति और सांत्वना मिली, और उनमें से अनेक बौद्ध-संघ में सम्मिलित हो गए। इनमें से बहुतों ने श्रमण का पद प्राप्त किया और बंधुभाव के उदार संदेश का भारत के ग्रामों-ग्रामों में प्रचार किया।

बौद्ध-धर्म का भी अधःपतन हुआ, और फिर दीन-ग़रीबों का तिरस्कार किया जाने लगा। तब सिंध के द्वार से इसलाम ने भारत में प्रवेश किया। अनेकों को इस बात पर आश्चर्य होता है कि इसलाम इतनी जल्दी सारे सिंध में कैसे फैल गया। सिंध की नागा आदि जातियाँ चिरकाल से अपमानित और बहिष्कृत पड़ी थीं, उनको इसलाम ने सामाजिक समता का संदेश सुनाया। यदि इसलामिक बंधुभाव ने उन दलितों के हृदय पर शीघ्र ही अधिकार जमा लिया, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? ऐसी हालत में यदि वे मुसलमान बन गए, तो इसमें अचंभे की कौन-सी बात है ?

कुछ अंशों में इसलाम के विरुद्ध प्रतिक्रिया के कारण हिंदू-

समाज छोटी-छोटी असंख्यक जातियों और उपजातियों में विभाजित हो गया और अपनी रक्षा के लिये उसने इन्हीं जातिपुहों में शरण ली। इसके बाद गुरु नानक (१६वीं शताब्दि) भ्रातृभाव का संदेश ले प्रकट हुए। अन्यान्य सिख-गुरु भी आंतरिक धर्म और मानव-जाति के बंधुत्व के सिद्धांतों से प्रेरित थे। कबीर साहब ने मुसलमान-जुलाहे के घर जन्म लिया था परंतु बहुत-से हिंदुओं ने उनका उपदेश ग्रहण किया। जाति-प्रथा के बंधन से रहित उनका सदाचार का संदेश इस कविता में सुचारु रूप से दर्शाया गया है—

"यदि तुम गंगा तट पर वास करो, तो केवल पवित्र जल पान कर सकोगे। किंतु भगवान् की भक्ति के विना तुम्हें मुक्ति कदापि नहीं मिलेगी।"

इसलाम के अनंतर इस देश में ईसाई-मत का आगमन हुआ। उच्च जातियों के घमंड से पीड़ित और निर्वासित अछूतों ने बड़ी संख्या में ईसाई-मत को अपना लिया। फ़ादर नोबिली विख्यात ईसाई-उपदेशक था। उसने संस्कृत पढ़ी और बाइबिल का उसमें अनुवाद किया। इस अनुवाद को वह पंचम वेद कहता और संन्यासी का वेष धारण कर उसका प्रचार करता था। इस प्रकार उसने मेडिवामिशन-नामक संस्था प्रारंभ की। जनसाधारण के समूह-के-समूह इस पादरी के उपदेश को सुनते,

हिंदू संन्यासी समझकर उसका यथोचित आदर करते और उसके हाथ से भोजन और जल तक ग्रहण कर लेते थे। कुछ दिन बाद इस पादरी नेबिली ने एक विराट् सभा में, जिसमें बहुत-से नगरवासी उपस्थित थे, पंचम वेद के सुननेवाले इन सैकड़ों मनुष्यों के संबंध में कहा—"ये ईसाई हो गए, इन पर हमारा अधिकार है, क्योंकि मैं ईसाई-पादरी (उपदेशक) हूँ।" इस बात को सुनकर लोग बड़े आश्चर्य में पड़ गए। उन्होंने कहा—"हम तो हिंदू हैं, हम ईसाइयत को कदापि स्वीकार नहीं कर सकते।" किंतु हिंदू-धर्म के उन लकीर के फ़क़ीर अंध-भक्तों ने, जो वहाँ उपस्थित थे, इन लोगों को हिंदू मानना अस्वीकार किया। उन्होंने कहा—"ईसाई संन्यासी के हाथ से तुमने भोजन और जल ग्रहण किया है। इसी 'पाप' के कारण तुम जाति और धर्म से च्युत हो गए।" हिंदुओं के इसी जाति-गर्व के कारण विवश होकर, उन भोले हिंदुओं को, जो संन्यासी वेषधारी पादरी के चंगुल में धोखे से फँस गए थे, ईसाइयत को अंगीकार करना पड़ा। हिंदू-समाज की ऐसी ही हृदय-हीन असहिष्णुता अथवा क्षमा-हीनता के कारण दक्षिण-भारत के लाखों हिंदू ईसाई बन गए।

ऋषि दयानंद, श्रीकेशवचंद्र सेन, स्वामी विवेकानंद आदि सुधारक समाजों के सभी प्रमुख नेताओं ने एक स्वर से

अस्पृश्यता का घोर विरोध किया है। फलतः आज कुछ जागृति दिखलाई दे रही है। जनता में नवीन चेतनता का विकास हो रहा है। राष्ट्र का जीवन वृक्ष के समान है, उसका भी विकास जड़ से होता है। हमारे देश की यथेष्ट उन्नति इसीलिये नहीं हुई कि उसकी जड़ें निराहार और शुष्क पड़ी हैं। वह दिवस भारत के इतिहास में सुवर्ण-दिवस होगा, जब कि हमारे शिक्षित नवयुवक देश के भिन्न-भिन्न भागों में जाकर, छोटे-छोटे नगरों और ग्रामों में जनता तथा अछूत भाइयों की सेवा का कार्य प्रारंभ करेंगे। प्रत्येक प्रांत में विशाल सेवा-संघों की आवश्यकता है। उसके विविध विभाग होंगे—

१. शिक्षा-विभाग—नगर-सभा (म्युनिसिपैलिटी) और सेवा-मंडली जनता में शिक्षा फैलाने में वहुत सफलता प्राप्त कर सकती है। छोटी-छोटी ग्रामीण पाठशालाओं में वेद-मंत्र, गीता अथवा अन्य किसी धर्म-ग्रंथ का पाठ करते हुए अछूत पुरुषों और बालकों का दृश्य कितना सुंदर और सुखद होगा। भंगी, चमार, ढेड़ और भीलों के लिये दिवस तथा रात्रि पाठशालाएँ और कन्या-विद्यालय खोलना आवश्यक है। उनकी भलाई के लिये पुस्तकालयों तथा वाचनालयों का भी प्रबंध करना होगा। उनके पढ़ने के लिये अनेक उपयोगी पुस्तकों और लेखों को, विशेषकर साधु-महात्माओं, वीरों और देशभक्तों के जीवन-

चरित्रों को, प्रकाशित करना पड़ेगा। मेजिक लेंटन के द्वारा उन्हें अर्वाचीन संसार का परिचय देना भी आवश्यक होगा। कथा कीर्तन, धार्मिक नाटक आदि का पुनरुद्धार करना पड़ेगा। हमें आवश्यकता होगी परिव्राजक उपदेशकों की जो ग्रामों-ग्रामों में घूमकर शिक्षा का प्रचार करेंगे। निरी अमूर्त जड़ शिक्षा से काम नहीं चलेगा। पढ़ना, लिखना और गणित के अतिरिक्त दलित जातियों को शिल्प-विद्या और कृषि-शास्त्र की शिक्षा देना भी आवश्यक होगा।

२. सफ़ाई-विभाग—हमें नगर-सभाओं से अनुरोध करना चाहिए कि वे भंगियों के लिये साफ़ मकान और पानी का प्रबंध करें। भंगियों को अशुद्ध भोजन त्यागने और पवित्रता से रहने का उपदेश देना चाहिए। सामाजिक सुधार के निमित्त उपयुक्त प्रदर्शनियाँ भी बहुत कुछ लाभ पहुँचा सकती हैं।

३. दरिद्रता-निवारण-विभाग—ग़रीब लोग ५०,७५ सैकड़े के कठिन सूद पर रुपया उधार लेते हैं। हमें रुपया उधार देकर (बिना ब्याज अथवा बहुत कम ब्याज पर) उनके सिर से ऋण और सूद का बोझ उतारना चाहिए। सहकारी-सभाओं के संगठन में सहायता देकर हम उन्हें गृह-धंधे भी सिखला सकते हैं।

४. निःशुल्क परिभ्रमक (Travelling) औषधालय—इनकी उन स्थानों में विशेष आवश्यकता है, जहाँ बुख़ार और

हैज़े का भीषण प्रकोप होता रहता है, जिससे प्रति वर्ष लाखों नर-नारी काल के ग्रास बन जाते हैं।

५. पंचायती * कचहरी और सभाएँ—

इनके द्वारा आपसी झगड़ों को शांत करने, रीति-रवाजों को सुधारने, हिंदुओं की सहानुभूति प्राप्त करने, तथा सामाजिक संज्ञा को सचेतन करने में सहायता मिल सकेगी।

भक्त-माल में एक जातिच्युत बालिका की हृदयग्राही कथा है। ऋषि उस बालिका का परित्याग कर देते हैं। मंदिर का द्वार-रक्षक उसे बाहर निकाल देता है। मंदिर के तालाब का जल विषैला हो जाता है। उसे कहीं कोई भी आश्रय नहीं मिलता। उसी समय उसे भगवान् राम के वन-आगमन का समाचार मिलता है। आँखों में आँसू भरकर वह निर्वासित अनाथ कन्या उत्सुकता से श्रीराम की बाट जोहती है। भगवान् राम आ गए, ऋषिगण उनसे आतिथ्य स्वीकार करने की प्रार्थना कर रहे हैं। किंतु श्रीराम कहते हैं—"कदापि नहीं।" वे उस जातिच्युत बालिका के ही अतिथि बनना चाहते हैं। राम उसकी टूटी झोपड़ी में जाते हैं और वह उनके खाने के लिये थोड़े से बेर लाती है। इन बेरों को उस बालिका ने तोड़ा था और चख-चखकर मीठे-मीठे श्रीराम के लिये रख छोड़े थे। इन्हीं

---

* Artitration.

जूठे बेरों को श्रीराम आनंद से खाते हैं। ऋषिगण राम से विनती करते हैं कि "भगवन्! तालाब का जल शुद्ध कर दीजिए।" राम कहते हैं "नहीं, जब तक यह जातिच्युत बालिका अपने चरणों को उस जल में नहीं धोती तब तक वह जल विषयुक्त ही रहेगा।" यह सुनकर ऋषिगण बालिका के चरणों पर गिरते और उसे मंदिर में ले जाते हैं। उसके चरणों का धोवन मंदिर के सरोवर में डाला जाता है। जल से विष दूर होता, उसमें मिठास आती है। यह कथा दृष्टांत रूप है। हमारे समाज में भी विष का प्रवेश हो गया है, क्योंकि हमने अछूतों को निर्वासित कर दिया है। हमने उन्हें मंदिरों और कुओं के उपयोग करने की अनुमति नहीं दी। राष्ट्रीय मंदिर में हमने उन्हें उचित स्थान से वंचित रक्खा है। हमारे घमंड और अत्याचार से पीड़ित इन अछूतों ने अपनी करुणापूर्ण यातनाओं को भगवान् के सामने उपस्थित किया है। उनके दुःखमोचन के हेतु ही आज भगवान् राम उनके मध्य में जा विराजे हैं। अछूतों की दारिद्र्यमय और अंधकारमय दुर्दशा में विश्व-सम्राट् उनके साथ हैं। अहो! विनीत भाव से उन्हें नमस्कार करो! उनके चरण धोओ! उनके कष्टों को दूर कर अपने पाप का प्रायश्चित्त करो! उन्हें फिर मंदिरों में ले जाओ! तभी देश की व्याधि को दूर करनेवाला पवित्र मधुर जल हमें प्राप्त हो सकेगा—अन्यथा नहीं।

हिंदू-जागृति

हिंदू-धर्म पर टीका करते हुए आर्य-सभ्यता का एक विख्यात विद्वान् समालोचक अपनी "भारत और भविष्य"-नामक पुस्तक में कहता है—

"हिंदू-धर्म के अतिरिक्त संसार के किसी भी धर्म ने इतने बहु-संख्यक और श्रेष्ठ महात्मा, आचार्य, सुलेखक, साधु, संत, राजा, योद्धा, राजनीति-विशारद, परोपकारी तथा देशभक्त महा-पुरुष पैदा नहीं किए।"

इस प्राचीन धर्म ने उस सामाजिक संगठन और धार्मिक व्यवस्था का निर्माण किया था, जिसके मूल तत्त्व युगों के अनंतर भी, कुसमय के अनेक प्रहारों और आघातों को सहते हुए भी, आज क्षुण्ण और अमर बने हुए हैं। सदियों तक उन जातियों और राजवंशों की अधीनता में रहते हुए भी, जो अपने को मुसलमान कहते हुए भी इसलाम के तत्त्वों और रसूल के उपदेशों को नहीं समझते थे, कठिन संकट और दुस्सह आपत्तियों से निरंतर घिरे रहने पर भी, हिंदू-समाज के सतत नाश-हीन अस्तित्व को मैं संसार के इतिहास में सबसे अधिक आश्चर्यजनक चमत्कार मानता हूँ। इस प्राचीन धर्म का पुन-

त्थान ऋषि दयानंद के "फिर वैदिक जीवन को अपनाओ" के जयघोष के साथ प्रारंभ हुआ। आज हिंदू-संगठन का प्रश्न देश के सामने है। मेरा निवेदन है कि यह समस्या सांप्रदायिक नहीं वरन् राष्ट्रीय है, इतना ही नहीं, एक अर्थ में यह सारे संसार की समस्या है। यद्यपि मैं सोचता हूँ कि स्वराज्य हिंदू-राज्य अथवा मुसलिम राज्य नहीं, वरन् प्रजातंत्र राज्य होगा, तथापि यह निर्विवाद है कि स्वराज्य-संग्राम में विजय-लाभ करने-वालों में हिंदुओं का बहुत बड़ा भाग होगा। अतएव उनके विचारों को भारतीयता से दीक्षित होना चाहिए। इतना ही नहीं, हिंदुओं को समस्त मानव-जाति का ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि संसार की पुकार हिंदू-जाति तक पहुँची है। योरप और अमे-रिका को हिंदू आदर्शवाद की आवश्यकता है। पश्चिम को जरूरत है ऋषियों के संदेश की, उस संदेश की जो बतला रहा है कि "सबमें एक ही आत्मा विराजमान है *।" आधु-निक जीवन को हिंदू-संस्कृति के इस आभास से शुद्ध और विकसित करने की आवश्यकता है कि "ज्ञान यज्ञ है और उसे हमें यज्ञेश्वर भगवान् की सेवा में अर्पित करना चाहिए।"

---

* एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा; एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा; तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।
(कठोपनिषद्)

हिंदू को जीना चाहिए भारत के लिये, मनुष्य-मात्र के लिये। इसी कारण उन्हें सच्ची राष्ट्रीय भावना से, मतमतांतरों की संकीर्णता को छोड़कर, संगठित हो जाना चाहिए। सच्चे हिंदू भाव का तत्त्व इस प्राचीन मंत्र द्वारा प्रकट किया गया है—"हे जीवधारियो, सारे प्राणियों को परमात्मा के अनन्य पुण्यतीर्थ के यात्री समझकर आपस में भ्रातृप्रेम का अनुभव करो।" समस्त इतिहास इस बात का साक्षी है कि हिंदुओं ने धर्म के नाम पर कभी भी विधर्मी व धर्म-द्रोही का रक्त नहीं बहाया। हिंदू-धर्म पर किसी संप्रदाय व मत का एकांत आधिपत्य नहीं, वह तत्त्वतः आध्यात्मिक दर्शन ही है। हर युग में उसने एकता और विश्वव्यापी मनुष्यता के आलोक को देखा है। इसी महान् तत्त्व का उपदेश हिंदू-संस्कृति के प्रचारकों ने लंका से काथे तक, मेडागास्कर से पूर्वीय द्वीपसमुदाय तक, मध्य एशिया से मलाया प्रायद्वीप तक—सुदूरवर्ती देशों को सुनाया था। हिंदू-धर्म का दूसरा नाम आध्यात्मिक मानववाद है और संसार हिंदू-मानववाद से प्रेरित नए-नए आचार्यों की आतुरता से प्रतीक्षा कर रहा है।

इन्हीं सब बातों के कारण हिंदू-संगठन यथार्थ में महत्त्वपूर्ण है। हिंदू-समाज ने बहुत दुःख सहा है। उसका सबसे भारी पाप उसकी एकमात्र निर्बलता रही है। कोई-कोई हिंदुओं को

कायर कहते हैं, कोई उन्हें राजनीति में मूर्ख मानते हैं, किंतु मैं उन्हें कोमल-हृदय ही कहता हूँ। वर्तमान भीषण स्थिति की उग्रता उनके लिये शिक्षाप्रद है। हमें शक्ति की नितांत आवश्यकता है। हिंदुओ! बहुत दिनों तक तुम कोमल निर्बल भावों के वशीभूत रहे हो, अब तुम्हें आवश्यकता है शक्ति की। जो हिंदुओं को पुरुषार्थी बना सकेगा, वही भारत का सच्चा उद्धारक होगा।

मैं मानता हूँ कि जिस स्फूर्ति का अभाव भारत में है उसका अस्तित्व मुसलिम देशों में पाया जाता है। ईजिप्ट को देखो! वहाँ की जन-संख्या लगभग १½ करोड़ है, जिसमें १० लाख कोप्ट हैं जो ईसाई-धर्म को मानते हैं। शेप मुसलमान हैं। इनमें से लगभग १ करोड़ फेलाहिन अर्थात् ग़रीब किसान हैं। किंतु उनमें बल और उत्साह है। जब केरो-जैसे विशाल नगर में, कोलाहल के ऊपर, हम अजान के—लाइलाहा इल्लिल्लाह--मुहम्मदरसूलिल्लाह (ईश्वर एक है और मुहम्मद उसका रसूल है) का शब्द सुनते हैं, तब हम पर गहरा असर पड़ता है। योरपीय महासमर के बंद होने के (११ नवंबर, १९१८) दो दिन बाद जगलुल पाशा और उसके साथी ब्रिटिश हाई कमिश्नर (ईजिप्ट का प्रमुख ब्रिटिश कर्मचारी) के पास गए और देश के लिये स्वतंत्रता माँगी। यह माँग अस्वीकृत

हुई। इस पर ईजिप्टवासियों ने अनुनय विनय में, अथवा राजनीतिक सिद्धांतों तथा सांप्रदायिक झगड़ों में अपना समय नष्ट नहीं किया। सारे लोग एकता के सूत्र में बद्ध हो सुसंगठित हो गए। जो शासन से संबद्ध थे, अथवा जो उसके बाहर थे, सबों ने राष्ट्रीय माँग पर ज़ोर डाला। लोगों ने अनेक कष्ट सहे। किंतु इसका फल क्या हुआ ? आज ईजिप्ट प्रायः विजय लाभ कर चुका है। लेकिन भारत अब तक भी "स्वराज्य, स्वराज्य" चिल्ला रहा है। यहाँ संगत, असंगत के नाम पर पारस्परिक फूट मची हुई है। तर्क-विद्या का लक्ष्य है—संगति। जीवन असंगत होने का भी साहस कर सकता है, और जीवन तर्कशास्त्र से कहीं अधिक महत् है।

ईजिप्ट, अरब आदि एशिया के सभी मुसलिम देशों से अधिक मात्रा में भारत के पास बुद्धि और सभ्यता विद्यमान है। किंतु मुसलिम देशों में भारत से अधिक जीवन-स्फूर्ति है। उनमें पुरुषार्थ है। हाल ही में मैंने एक घटना का वृत्तांत पढ़ा। किसी हिंदू-बालक ने कहा कि "एक ईसाई पठान ने मुझ पर चाक़ू चलाया है।" उस पठान ने उत्तर में कहा—"मैंने आवेश से विवश होकर ही ऐसा किया है।" तब उन दोनों से कहा गया कि "तुम लोग एक-एक चाक़ू ले लो और लड़कर अपने झगड़े का निपटारा कर लो।" हिंदू-बालक

से पूछा गया—"क्या तुम्हें यह प्रस्ताव स्वीकार है ?" उसने उत्तर में कहा—"मैं पठान नहीं हूँ, मुझे लड़ना-भिड़ना नहीं आता।" इसी बालक के संबंध की और भी कथा है। जब उससे फुटबाल खेलने को कहा गया तब वह बोला—"इससे मुझे क्या फ़ायदा हागा ?" लोगों ने कहा—"तुम इससे सबल बनोगे।" बालक ने पूछा—"क्या इस खेल से मुझे धन प्राप्त हो सकेगा ?" लोगों ने कहा—"नहीं।" तब उस बालक ने कहा—"जब इस खेल से मुझे कोई (आर्थिक) फ़ायदा नहीं है, तो मैं उसे नहीं खेलना चाहता।" वर्तमान हिंदू-जाति को मेरा संदेश यही है—"बलवान् बनो, अपने को धनोपार्जन का यंत्र मत बनाओ।" हिंदुओं का पुराना उत्साह नष्ट हो गया है। हम केवल राजनीतिक व्याधियों से नहीं, बरन् सामाजिक रोगों से भी पीड़ित हैं। नौकर शाही की व्यवस्था में अराजकता का अंकुर वर्तमान है, क्योंकि मानवी प्रवृत्ति उसके प्रतिकूल है। मनुष्य की आत्मा इस विधान से मेल नहीं खाती। हमारे समाज के भीतर आंतरिक अव्यवस्था उपद्रव मचा रही है। कभी-कभी जलियाँवाला बाग़-जैसे हत्याकांड (१९१९) तथा दक्षिण आफ़्रिका द्वारा किया गया अपमान (१९२४-६) हमें लात मार-कर जगा देते हैं। परंतु थोड़ी देर बाद हम फिर निद्रा में लीन हो जाते हैं। हम सुकुमार भावों के वशीभूत हैं। इसमें आश्चर्य नहीं

कि बहुत-से लोगों के हृदय में परिवर्तन क्रांति तथा भविष्य का भय और आतंक जमा हुआ है। अकाली वीर इस श्रेणी में नहीं हैं—वे इस कायरता से दूर हैं। इन मुट्ठी-भर बहादुर सिक्खों ने भय और कायरता को दूरकर संसार की सबसे प्रबल नौकरशाही के हृदय को भयाकुल कर दिया है। किंतु हिंदू-जाति ! हिंदू तो कोमलता और शिथिलता के वशीभूत हो अकर्मण्य बने बैठे हैं। महात्मा गांधी के जेल जाने के बाद देश में सर्वत्र निराशा और उत्साहहीनता ही दीखती थी। सबल जातियाँ अपने नेता के बंदी हो जाने पर—हतोत्साह नहीं होतीं, प्रत्युत द्विगुण उद्योग और स्फूर्ति से कर्म में संलग्न हो जाती हैं। पुरुषार्थी वीरगण साहस और दृढ़ता से आगे बढ़ते और पराजय के अंतरतम प्रदेश तक से विजय-श्री का उद्धार करते हैं।

"इँगलैंड का विस्तार"-नामक सुविख्यात पुस्तक में सीले ने (Sir John Seeley) इन सारपूर्ण शब्दों को लिखा है—"विदेशियों के शासन में सुदीर्घ काल तक रहना राष्ट्रीय अधोगति का एक सर्वप्रधान कारण है।" यह ऐतिहासिक सिद्धांत संसार के सब देशों की अपेक्षा भारत पर अधिक सुचारु रूप से घटित होता है। हमारे सामने मुख्य प्रश्न यही है कि पुनरुत्थान की शक्तियाँ कैसे मुक्त हों ? हिंदू-जाति का शक्ति-रूप से, नवजीवन होना चाहिए। हानिकारक रीति-रवाज, शारीरिक निर्बलता

संकीर्ण सांप्रदायिकता इत्यादि जो हमारी शक्ति को क्षीण कर रहे हैं—इन सबको निकाल बाहर करना होगा। हाल ही में किसी हिंदू ने अपने ९ वर्ष के बालक को काली को बलि दे दी। ऐसी ही कुरीतियाँ और अंधविश्वास हिंदू-जाति को निस्सत्व कर रही हैं। उसकी उन्नति के लिये सामाजिक बल की परमावश्यकता है। किंतु हानिकारक रीति-रवाजों और बुरी आदतों को दूर किए बिना यह असंभव है। ५० साल पहले जापान की दशा बहुत गिरी हुई थी। उस समय वहाँ के कुछ देशभक्तों ने संकल्प किया कि उसे प्रतापशाली राष्ट्र बनाना चाहिए। उन्होंने यह भली भाँति समझ लिया था कि जापान को महत् बनाने के लिये उन रीतियों और व्यवहारों को एकदम तिलांजलि दे देना पड़ेगी जो उसकी उन्नति के मार्ग में बाधक हैं। जापान में आत्मविश्वास था। उसने अपने जातीय जीवन में भारी परिवर्तन कर उसे सुसंगठित किया। फलतः संसार के राष्ट्रों में आज जापान को आदरणीय स्थान प्राप्त है।

पूर्व इसके कि कोई जाति महान् और गौरवान्वित बनने की आशा करे, उसे समयानुकूल अपनी काया-पलट करना नितांत आवश्यक है। इस समय टर्की और अफ़ग़ानिस्थान प्रमुख मुसलिम देश हैं। दोनों में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे हैं। दोनों

में नूतन शक्ति के लक्षण दीख रहे हैं। बहुतों को इस बात का पता नहीं है कि अफ़ग़ानिस्थान के अमीर कितने उत्साही और उद्यमी हैं। वे मुल्लाओं का प्रभाव नष्ट करने, अफ़ग़ान महिला को अधिकार देने व बालक-बालिकाओं के लिये पाठशाला खोलने में संलग्न हैं। इसी तरह टर्की में बहुत उन्नति हो रही है। कमालपाशा ने बहु-विवाह की प्रथा को बंद कर दिया। मुल्ला और मौलवियों की सत्ता को उसने समूल नष्ट कर डाला है। भारत को भी एक आंतरिक परिवर्तन स्वीकार करना होगा। हम अब तक भी कृतार्थ नहीं हो सके। इसका कारण यह है कि यद्यपि हम नौकर शाही से लड़ रहे हैं, तथापि हम अभी तक भी अपने आप पर, अपने भेद-भावों पर, कठोर और हानिकर रीति-रवाजों पर, मनुष्यता के विरुद्ध किए गए अपने पातकों पर—विजय प्राप्त नहीं कर सके हैं।

अपने उद्धार के लिये प्रयत्नशील देश को भविष्य-निर्णय करनेवाले तत्त्वों में से न केवल नियम व क़ानून निर्माण, बरन् सामाजिक संगठन भी अनिवार्य हैं। हमें अपनी सामाजिक अवस्था को बदलना पड़ेगा। यदि हमें यह इष्ट है कि स्वराज्य पाते ही हम उसे तत्क्षण न खो बैठें, यदि हम स्वराज्य को स्थायी रूप से चाहते हैं, तो हममें आंतरिक परिवर्तन होना अनिवार्य है। हमारा पुनर्निर्माण भीतर से होना चाहिए। हमें बाह्य और

कृत्रिम को छोड़कर आध्यात्मिक तथा स्वाभाविक तत्त्वों पर ही स्वराज्य की नींव डालना चाहिए।

हिंदू-संगठन की सारी समस्या शिक्षा पर निर्भर है। ग्रामों में भयंकर अविद्या और अंधविश्वास फैला हुआ है, वहाँ पाठ-शालाओं की अत्यंत आवश्यकता है। प्लेटो (ग्रीस देश का एक प्राचीन तत्त्ववेत्ता) से लगाकर आज तक संसार के ई० पू० ४ फ़ीसदी सभी दार्शनिकों ने शिक्षा को प्रत्येक उत्थान और उन्नति का मूल-तत्त्व माना है। यह अकारण नहीं, सर्वथा उपयुक्त है। हेंपडन इंस्टीट्यूट (Hampden Institute) के जगद्वि-ख्यात प्रवर्तक डॉक्टर दुवोय साहब ने जब अपने समाज के संगठन का कार्य हाथ में लिया, तब उन्होंने अपना कार्य-क्रम शिक्षा से प्रारंभ किया। जब उनके अनेक देशवासी "समता, समता" चिल्लाकर अपनी शक्ति क्षीण कर रहे थे, तब दुवोय साहब शिक्षा-प्रचार में ही तल्लीन थे। उनके ये वचन यथार्थ थे कि "शिक्षा-प्रचार की नीति ही फलदायक है।" उनकी अपूर्व सफलता उपर्युक्त सिद्धांत की पुष्टि करती है। शिक्षा के प्रभाव से उनके समाज ने उन्नति और अभ्युदय के नवीन युग में प्रवेश किया।

मेरा आग्रह है कि शिक्षा द्वारा मानसिक व साहित्य-विषयक ही नहीं, बरन् शारीरिक विकास भी होना चाहिए। कार्य

और कारण में दोनों प्रकार की शिक्षाओं का तारतम्य होता है। "तीव्र बुद्धि का सबल शरीर में वास" यही शिक्षा का ध्येय होना चाहिए। हिंदुओं को अपना शरीर हृष्ट-पुष्ट बनाना चाहिए। हमारे विद्यालयों और महाविद्यालयों के अधिकतर विद्यार्थी अत्यंत दुर्बल होते हैं। "खेल-कूद से ही मनुष्य मनुष्य बनता है" ये कविवर शिलर (विख्यात जर्मन-कवि) के वचन हैं। भारतीय विद्यार्थियों को खूब उत्साह के साथ खेल-कूद सीखना चाहिए। इससे उनमें पुरुषार्थ की उत्पत्ति और वृद्धि होगी।

शिक्षा में आध्यात्मिक तत्त्वों का होना भी जरूरी है। इनकी सिद्धि हिंदू-संस्कृति और आदर्शों के अध्ययन से हो सकेगी। इन उदार आदर्शों की हम अब तक उपेक्षा करते रहे हैं। आज बहुत कम हिंदू ऐसे हैं, जो आर्यों के प्राचीन ग्रंथों को पढ़ते हों। प्राचीन भारत के दर्शन, साहित्य तथा धर्म की योरप और अमेरिका के विद्वानों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है, किंतु हमारे हिंदू-भाई अज्ञानांधकार में ही पड़े हुए हैं। उस दिन एक हिंदू ने मुझसे पूछा—"क्या श्रीभगवद्गीता और भागवत पुराण एक ही पुस्तक नहीं हैं ?" हिंदू-संस्कृति का नवीन अध्ययन परमावश्यक है। समस्त हिंदू-संस्कृति में सत्य की उपासना तथा दीनों के प्रति बंधुत्व के उदार भाव

व्याप्त हैं। चाहे वह सत्य किसी भी दिशा से प्राप्त हो, चाहे वे दीन जन किसी भी संप्रदाय के अनुयायी हों। हिंदू-संस्कृति तत्त्वतः आध्यात्मिक है, अतएव मत-मतांतरों की संकीर्णता से सर्वथा रहित है।

देश ने श्रीराम के आदर्श को भुला दिया है। हम विद्योपार्जन करते हुए भी, ब्रह्म-विद्या के बारे में वार्तालाप करते हुए भी, कर्म-प्रधान जीवन-संग्राम से अधिकाधिक दूर भाग रहे हैं। ज्यों-ज्यों हम पीठ दिखलाते हैं, त्यों-त्यों हमारा पुरुषार्थ क्षीण और नष्ट होता जा रहा है।

इस भाव का विकास कब होगा कि "आध्यात्मिकता, जाति-भेद व मत-संकीर्णता नहीं, वरन् सदाचार और पुरुषार्थ ही है?"

किसी जर्मन समालोचक ने ब्रिटिश-शासन के संबंध में इस विचार-पूर्ण मत को प्रकट करते हुए अपनी तीक्ष्ण बुद्धि का परिचय दिया है—

"श्वेतांग मनुष्य भारत में देवता के समान आया। किन कारणों ने उसे देव-तुल्य बना दिया? उसकी सुसंगठित समर-शक्ति ने और उसकी अटल इच्छा-शक्ति ने। यद्यपि अन्यान्य बातों में उसका सामरिक बल कम था, तथापि वह अच्छी तरह संगठित था। इसी कारण उसने नरम और

अव्यवस्थित भारतवासियों पर, मोम के ऊपर मुहर छाप की तरह, अपना प्रभाव जमा लिया।"

यह ठीक ही है, चिरकाल से हिंदू नरम और शिथिल हो गए हैं। अब आवश्यकता है अदम्य उत्साह की, दृढ़ इच्छा-शक्ति की।

समयाभाव से यहाँ मैं यह नहीं बतला सकूँगा कि शूद्रों और स्त्रियों के विरुद्ध किए गए पातकों का हिंदू-जाति को कैसा प्रायश्चित्त करना होगा। इन्हीं में शक्ति छिपी हुई है। उस शक्ति का लोप नहीं हुआ है, केवल उसे मुक्ति करने की आवश्यकता है। नारी के प्रति नवीन आदर, मनुष्य का मनुष्योचित सत्कार, दीन के प्रति नूतन सम्मान, शरीर को आत्मा का वाहन जानकर उसकी उन्नति के लिये विशेष प्रयत्न, हृदय-मंदिर में विराजमान परमात्मा की नवीन भक्ति, इन सबकी हिंदू-जाति को सबल बनाने के लिये आवश्यकता है। हमें फिर शक्ति और सामाजिक सहानुभूति का प्रचार करना चाहिए। हिंदू दुर्बल हैं, उन्हें पुरुषार्थ का संवर्धन करना होगा। वास्तव में यह शक्ति-संदेश प्राचीन ऋषियों का ही संदेश है। कर्म की महिमा श्रीगीता में गाई गई है। वैदिक मंत्र बल के महान् आदर्श से पुलकित हैं। आर्य-काल में

उन्होंने जावा, कंबोडिया आदि में अपने उपनिवेश बनाए थे। उन्होंने चीन, कोरिया आदि में अपनी संस्कृति का विस्तार कर भारत को वास्तव में प्रतापशाली और महत् राष्ट्र बनाया था। एक जापानी लेखक कहता है—

"भारतीय सभ्यता के विविध उपहार कविगण मध्य एशिया को ले गए। वहाँ से चीन और कोरिया में उनका प्रचार हुआ, और अंत में जापान ने उन्हें सधन्यवाद अपनाया।"

आज संसार के गौरवान्वित राष्ट्रों में जापान की गणना है, किंतु हिंदुओं को सभ्य राष्ट्रों की पंक्ति में नीचा आसन ही मिलता है।

किसी धर्म-ग्रंथ में हमने श्रीकृष्ण के एक भक्त की कथा पढ़ी है। निर्बल और थकित भक्त वृक्ष की छाया में पड़ा हुआ है। दूध का पात्र हाथ में लिए एक ग्वाल-बाल उसके समीप आता और मुसकिराकर कहता है—"इस दूध को पियो और अपनी थकावट दूर करो।" भक्त दूध पीता है और उसकी थकावट दूर हो जाती है। ग्वाल-बालक का अलौकिक सौंदर्य उसके मन को हर लेता है। बालक कहता है—"अब मैं जाता हूँ, मुझे गौओं का दूध दुहना है; किंतु मैं फिर लौटकर आऊँगा।" कुछ समय बाद बालक लौटकर आता है। यह बालक कौन है? श्रीकृष्ण। अति विनीत भाव से भक्त पूछता है—"हे प्रभु!

आप कहाँ बसते हैं ?" श्रीकृष्ण कहते हैं—"वर्षा और आँधी से सदा संत्रस्त इसी उजड़ी पर्ण-कुटी में मैं रहता हूँ। हे भक्त! जाओ, और उनसे कहो कि मेरे लिये एक नवीन मंदिर बनावें और मुझे वापस बुला लें।"

मित्रो ! मैं प्रभु का एक नम्र शिष्य हूँ और आपके पास इसी स्नेहमय आग्रह को लेकर उपस्थित हुआ हूँ—"प्रभु को वापस बुलाओ।" सुदीर्घ काल पूर्व उन्होंने हिंदू-धर्म को संगठित कर उसे नवीन समष्टीकरण का उपदेश दिया था। वे ही भगवान् आज टूटी पर्ण-कुटी में बसते हैं। शक्ति की आधार-शिला पर हिंदू-जाति का संगठन करो। हे अपने को सहर्ष हिंदू कहने-वालो ! एक हो जाओ। अपने प्राचीन देश की सेवा के हेतु, दैवी मानव-जाति की उपासना के निमित्त, भेद-भाव को त्याग दो। बंधु-भाव के सूत्र द्वारा एकता में बद्ध हो जाओ, और एकता और प्रेम के नवीन उपासना-मंदिर में एक बार फिर निर्वासित प्रभु को स्थापित करो।

शक्ति-विज्ञान

एक वैदिक स्तोत्र ❀ में ईश्वर का "आत्मदा" और "बलदा" कहकर आवाहन किया गया है। हमें शारीरिक बल और आध्यात्मिक प्रकाश दोनों की आवश्यकता है। शारीरिक बल मेरे शक्ति-सिद्धांत के अंतर्गत है। प्राचीन काल के भारतवासियों ने इसके महत्त्व को समझा था। पातंजलि कहते हैं कि दुर्बल मनुष्य को योग की शिक्षा कदापि नहीं देनी चाहिए। आर्य विद्यार्थियों को धनुर्विद्या, प्राणायाम, मुग्दर चलाना, कुश्ती इत्यादि सिखलाए जाते थे। वीरता का सर्वत्र आदर होता था। दसवीं शताब्दि के एक अरब-लेखक ने तत्कालीन भारत का हाल लिखा है। उसमें उसने सात सामाजिक विभागों की सूची दी है। वह कहता है कि इनमें सर्वोच्च स्थान क्षत्रियों को और दूसरा ब्राह्मणों को प्राप्त था। जब मुसलमानों ने मेसोपटामिया, ईरान और बलोचिस्थान पर अधिकार जमा लिया, तब मेवाड़ और संभर के राजपूतों

❀ य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते, प्रशिषं यस्य देवाः ;
यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः, कस्मै देवाय हविषा विधेम।
(यजु० अ० २५, मं० १३)

ने अद्भुत पराक्रम और वीरता के साथ उनका सामना किया और विजय पाई। बलोचिस्थान को जीतकर मुसलमानों ने सिंध पर आक्रमण किया। वहाँ वीर गोहिलोट राजपूतों ने उनके दाँत खट्टे किए। प्राचीन भारत का इतिहास बलवान् आर्यों के वीर-चरित्रों से भरा हुआ है। पुण्यस्मृति भगवान् राम का जीवन-चरित्र देखो। मध्यकालीन भारत का इतिहास वीर राजपूतों के पराक्रम की कथाओं से परिपूर्ण है। बप्पारावल की योरप के विख्यात वीर चार्ल्स ॐ मारलेट से तुलना की जा सकती है। महाराणा प्रताप अपने समय के अद्वितीय वीर थे।

कतु आज हमारी क्या दशा है ? जब (कुछ वर्ष पूर्व) रेमसे मेकडानल्ड (ब्रिटिश-मज़दूर-दल के नेता) भारत में थे, तब उन पर भारतवासियों की दुर्बलता और उत्साहहीनता का गहरा प्रभाव पड़ा था। अपनी "जाग्रत् भारत"-नामक पुस्तक में उन्होंने इसका उल्लेख किया है। इस करुण दशा ने अनेकों विदेशी यात्रियों का ध्यान आकर्षित किया। भारतवासी निस्सत्त्व हैं, उनके शरीर में बल नहीं था।

हमारे पूर्व पुरुषों को राष्ट्रीय आरोग्यता और जातीय

ॐ इन्होंने मुसलमानों को हराकर स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा की थी।

शक्ति की उपयोगिता पर दृढ़ विश्वास था। किंतु आज हम देश के स्वास्थ्य और बल-वृद्धि के निमित क्या प्रयत्न कर रहे हैं ? तरुण भारत पर दृष्टि डालो। छोटा क़द है, क्षीण-दुर्बल देह है, रोगग्रस्त शरीर है, पाचन-शक्ति कमज़ोर है, फुर्ती नाम-मात्र को नहीं है—यह है तरुण भारत की दशा। भयंकर मृत्यु-संख्या, प्रतिवर्ष केवल मलेरिया द्वारा अगणित मनुष्यों की मृत्यु, दिन-प्रति-दिन बढ़ती हुई शारीरिक निर्बलता, यही हमारी वर्तमान शोचनीय दुर्दशा है। दिन-प्रति-दिन हिंदू-जाति का ह्रास हो रहा है, वह धीरे-धीरे मर रही है।

आजकल की शिक्षा-प्रणाली में रटने पर खूब ज़ोर दिया जाता है। यह भी विद्यार्थियों की निर्बलता का एक कारण है। इसके अतिरिक्त कई कारण और भी हैं। ब्रह्मचर्य ही शारीरिक विकास का मूल-तत्त्व है। भोग-वासना ने हमारे कितने ही नवयुवकों का सत्यानाश कर दिया है। शरीर-विज्ञान का मूल-मंत्र है इंद्रियों का संयम। प्राचीन काल में प्रत्येक आर्य विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य का पालन करना अनिवार्य था। मेरा आग्रह है कि सरल जीवन के प्राचीन आदर्श को फिर से समझो और प्रयोग में लाओ। सरलता में ही देश की शक्ति है, पवित्रता में ही सदाचार का रहस्य है, आत्म-संयम

में ही प्रबल समाज का मूल-तत्त्व है। चिरकाल से आधुनिक शिक्षा में संस्कृति के यथार्थ आदर्शों का अभाव है। इसी कारण हमारे नवयुवकों को धनोपार्जन की चिंता है, जीवन को सफल और महत्त्व-पूर्ण बनाने की नहीं। जीवन का सच्चा उद्देश्य क्या है ? इसका वे तनिक भी विचार नहीं करते। शिक्षा-शास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य प्रोफ़ेसर चंपानक कहते हैं कि "शिक्षा की उपयोगिता व अनुपयोगिता को भौतिक लाभ व हानि की गणना द्वारा निर्धारित करना (मापना) बहुत ही हानिकर होगा।" आज हमारे देश को आवश्यकता है उन मनुष्यों की, जिनकी रहन-सहन सरल और आडंबरहीन हो, किंतु जिनके विचार उन्नत और पवित्र हों।

हमारे नवयुवकों में बहुधा निम्न-लिखित चार दोष पाए जाते हैं—

१. उन्हें उत्तेजक भोजनों की इच्छा रहती है।

२. वे बहुत कम साँस लेते हैं।

३. वे बहुत कम पानी पीते हैं।

४. उन्हें भोग की बड़ी लालसा रहती है।

वे सुकुमार बनना चाहते हैं, यही उनका पाप है। मैं कहता हूँ—"कट्टर बनो।" अधिकांश विद्यार्थी शरीर की अपेक्षा

वस्त्रों पर अधिक ध्यान देते हैं। वे समझते हैं कि भड़कीली पोशाक पहनना पुरुषार्थ व भद्रता की निशानी है। वे भूल जाते हैं कि सौंदर्य का रहस्य वस्त्र अलंकारादि में नहीं, वरन् शरीर और मन की स्वस्थता में ही है। उनका भोजन-पान और वेष-भूषा सरल होना चाहिए। अमेरिका के जगत्-प्रसिद्ध विद्वान् एडसिन ने कहा था—"अमेरिकावासियों को भोजन का नशा है।" यही हमारे उन नवयुवकों के संबंध में भी कहा जा सकता है, जो बहुमूल्य और उत्तेजक भोजनों के लिये होटलों के चक्कर लगाते हैं। इन नवयुवकों को भोजनरूपी मदिरा का नशा रहता है। आरोग्यता और शक्ति ऐसे लोगों के लिये नहीं है।

इंद्रियों के संयम और जीवन की सरलता से ही शक्ति प्राप्त होती है। इसीलिये नवयुवकों से मेरा निवेदन है कि सरल जीवन को अपनावें। "विद्योपार्जन के लिये ब्रह्मचर्य से रहना आवश्यक है *।" यह प्राचीन नियम अत्युत्तम था। हमें फिर इस नियम को कार्यरूप में परिणत करना चाहिए। ज्ञान और भोग एक साथ नहीं रह सकते। विद्यार्थियों को अखंड ब्रह्मचर्य से रहना चाहिए। उन्हें उपयुक्त भोजन करना चाहिए। वे भरपेट भोजन करें, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि वे कामोद्दीपक

---

* ब्रह्मचर्येण विद्या, विद्यया ब्रह्मलोकं (अथर्व-संहिता)

विद्यार्थी ब्रह्मचारी स्यात् (विदुर)

वस्तुओं का सेवन करें। इसका अर्थ है कि वे ऐसा भोजन करें, जिसमें स्वास्थ्यवर्धक तत्त्वों का बाहुल्य हो। एक डॉक्टर ने पंजाबी किसानों के भोजन की बहुत प्रशंसा की है। गेहूँ की रोटी, दाल, तरकारी, घी और दूध यही उनका भोजन है। उक्त डॉक्टर का कथन है कि इसी भोजन के प्रभाव से किसान लोग "सभ्यता" के अनेक रोगों से बचे रहते हैं। आगे चलकर आप कहते हैं कि अँगरेज़ी भोजन में स्वास्थ्यकर तत्त्व का उतना ही अभाव रहता है, जितना कि पंजाबी और डेनिस भोजनों में उनका बाहुल्य होता है। डेन लोगों (डेनमार्क देश के वासी) का भोजन बहुत कुछ पंजाबियों-जैसा ही होता है। वे अधिकतर गेहूँ की रोटी, जव का जूस, हरी तरकारी, आलू, दूध और मक्खन का ही आहार करते हैं। डॉक्टरों का मत है कि हरी भाजी, चना, मटर, टमाटर, सेम आदि स्वास्थ्य के लिये अत्यंत उपयोगी हैं। पहले भारत-बासी इनका अधिक प्रयोग करते थे। फ़ैशन और भोग के लालच में पड़कर आजकल विद्यार्थीगण सरल जीवन का तिरस्कार करते हैं। स्वास्थ्य तथा बल-वृद्धि के लिये सरल भोजन ही उपयुक्त है। न भोग-विलासों से, न मांस-भक्षण से, न होटलों में प्राप्य कामोद्दीपक भोजन से, बरन् शुद्ध, सरल आहार से ही आरोग्यता और शक्ति की प्राप्ति होती है। परम सुख तो इसी में है कि हम न केवल अपने मित्रों, बंधुओं

तथा देशवासियों को, वरन् उन दीन प्राणियों को भी प्रेम और सेवा निःस्वार्थ-भाव से अर्पित करें, जिनकी प्रतिदिन मनुष्य के पेट के लिये हत्या की जाती है। इस चेतन जगत् में, प्राणियों के इस साम्राज्य में, ये पशु-पक्षी भी हमारे भाई हैं।

स्वच्छ वायु और व्यायाम आरोग्य-साधन के लिये अत्यंत उपयोगी हैं। शारीरिक सुधार की संस्थाओं का महत्त्व राजनीतिक संस्थाओं से किसी भाँति कम नहीं है। राष्ट्रीयता का आविर्भाव राजनीति अथवा संस्कृति के द्वारा ही नहीं, खेल-प्रियता के द्वारा भी होता है।

आयर्लैंड में नवीन राष्ट्रीय जीवन के साथ-ही-साथ (स्वतंत्रता १९२२ के साथ) राष्ट्रीय खेलों का भी पुनरुत्थान हुआ। भारत में सर्वत्र आवश्यकता है ऐसे अखाड़ों की, जहाँ पर कसरत, मुग्दर, डंड, कुश्ती, प्राणायाम आदि की समुचित शिक्षा दी जा सके। विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में व्यायाम-संबंधी प्रदर्शनियों का आयोजन होना चाहिए। खेल और कसरत परीक्षाओं से भी अधिक आवश्यक हैं, क्योंकि इनके बिना मस्तिष्क खिन्न हो जाता है और बुद्धि में तीव्रता नहीं आती। विद्याभ्यास की धुन में स्वास्थ्य की अवहेलना करने के कारण नवयुवकों की बड़ी दुर्दशा होती है। बहुधा यह

कहा जाता है कि हिंदुओं में एकता का पूरा अभाव है। मैं कहता हूँ कि खेल-कूद से इनमें एकता के भाव जाग्रत् होंगे। प्राचीन भारत में शारीरिक विकास शिक्षा का एक अभिन्न अंग माना जाता था। मनु महाराज ने गुणों की गणना में साहस को प्रथम स्थान दिया है। गुरु के आश्रम में विद्यार्थी को सच्चे मनुष्य बनने का उपदेश दिया जाता था। वर्तमान योरप ने खेलों के महत्त्व को भली भाँति समझ लिया है। जो व्यक्ति कैंब्रिज-विश्व-विद्यालय में नाव चलाने में प्रथम होता है, उसका आदर और सम्मान गणित-विद्या के सर्वश्रेष्ठ विद्यार्थी से कहीं अधिक होता है। जर्मन-नवयुवकों को पहाड़ लाँघने का बड़ा शौक़ है। जर्मनी के नवयुवक आंदोलन के कार्य-क्रम में यह एक विषय है कि प्रति रविवार को कोसों दूर तक भ्रमण किया जाय, और प्रकृति तथा कृषकवर्ग के सान्निध्य में समय व्यतीत किया जाय। फ़िनलैंड के युवकों का लक्ष्य रहता है—"शरीर को दृढ़ और सहनशील बनाना।" वहाँ के सर्वोत्तम खिलाड़ी को यह पारितोषिक मिलता है कि वह जन्म-भर कर (टैक्स) देने से मुक्त कर दिया जाता है। वहाँ छोटे-छोटे बालक-बालिकाएँ शीतकाल में प्रतिदिन मीलों तक बर्फ़ पर चलने के लिये उत्साहित किए जाते हैं। भारत का एक सबसे करुण और शोचनीय दृश्य है, उसके चश्मा लगाए हुए मुख-मलीन कांति-

हीन युवकगण। ऐश और आराम की लालसा ने उनके शरीर को शिथिल और क्षीण कर दिया है। उन्हें कट्टर बनने की शिक्षा दी जानी चाहिए। इसीलिये प्राचीन भारत में ब्रह्म-चर्य पर सबसे ज्यादा जोर दिया जाता था। जापान में भी इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता है। जाड़े के दिनों में जब वहाँ कड़ी ठंड पड़ती है, तब बालकों को आग तापने की अनुमति नहीं दी जाती। जब उनके पाँव ठंड के मारे ठिठुर जाते हैं, तब उनसे कहा जाता है कि "धूप में दौड़कर उन्हें गरम कर लो।"

हिंदू-युवकों को दुःख और संकट सहने का अभ्यास डालना चाहिए। पाठशालाओं के भीतर और बाहर सब कहीं शारी-रिक उन्नति के प्रति अनुराग उत्पन्न होना चाहिए। इस संबंध में जापान में एक बहुत उपयोगी क़ानून है। उसके अनुसार शिक्षक-पद के सब उम्मेदवारों को कम-से-कम ३ से ५ घंटे तक प्रति सप्ताह कसरत करना पड़ता है। खेल-कूद में उत्साह बढ़ाने के उद्देश्य से जापान में अनेक सभा और परिषद् स्थापित हैं। इनमें से सबसे बड़े का नाम है—"सैनिक कला-परिषद्।" दूसरे का नाम है—"राष्ट्रीय शारीरिक शिक्षा-समाज।" जिसके लगभग २० लाख सदस्य हैं। (समस्त जापान की कुल जन-संख्या लगभग ५ करोड़ है)। जापान में दूर-

दूर तक भ्रमण करने की प्रथा भी बहुत प्रचलित है। इस संबंध में किसी विद्वान् लेखक के "नूतन जापान" के वृत्तांत से कुछ अंश हम नीचे उद्धृत करते हैं—

"ऐसी यात्राओं में एक सप्ताह व दस दिन के लगभग समय लग जाता है। विद्यार्थियों के छोटे-छोटे दल बना दिए जाते हैं, और एक-एक शिक्षक प्रत्येक दल का नेता नियुक्त किया जाता है। इन दलों के बालक भी अनेक टुकड़ियों में विभक्त किए जाते हैं। प्रत्येक विभाग में १०-१२ विद्यार्थी रहते हैं। इनमें से एक उसका मुखिया बनाया जाता है, जिसका यह कर्तव्य होता है कि दिन में तीन बार दलपति को अपने विभाग के विद्यार्थियों की दशा से सूचित करें। विद्यालयों की उच्च शिक्षाओं के लड़के इस भाँति प्रतिदिन २५-३० मील की यात्रा को कुछ नहीं गिनते। प्रत्येक विद्यार्थी को अपने कपड़े और खाने-पीने का सामान आदि आवश्यक वस्तुएँ खुद ही अपने कंधे पर ले जाना पड़ती हैं।"

हमें एक ऐसे अखिल भारतवर्षीय शारीरिक सुधार-परिषद् की तत्काल आवश्यकता है, जिसकी शाखाएँ प्रत्येक प्रांत में हों।

अपने देशवासियों से मेरा कथन है—"पुरुषार्थ पर विश्वास रक्खो, सबल बनो। शक्ति, आरोग्यता, दृढ़ इच्छा-शक्ति, विचार-

स्वातंत्र्य और वीर्यवान्, तेजवान् व्यक्तित्व को सिद्धि में गाढ़ानुराग, इन सबके संदेश को चारों ओर फैलाओ।"

तरुण भारत से मेरा निवेदन है—

"सरल बनो, वीर बनो, कट्टर बनो।"

किसान-पुनर्जागृति

हमारी समस्या का मूल-प्रश्न ग्राम-सुधार का ही प्रश्न है। कोई कहते हैं कि नागपुर-कांग्रेस (१९२०) में निर्णीत असहयोग-आंदोलन को फिर प्रारंभ करो। कोई कहते हैं कि सविनय आज्ञा-भंग, जिसे महात्मा गांधी ने बारडोली (१९२२) में स्थगित कर दिया था, अब आरंभ करना चाहिए। किसी-किसी का मत है कि नौकरशाही के साथ सहयोग कर सुधारों से यथासंभव लाभ उठाना चाहिए। किंतु कितने मनुष्य यह कहते हैं कि "हमें स्वार्थरहित सेवा में दत्तचित्त हो जाना चाहिए।"

भेद-भाव, सांप्रदायिक झगड़े, कलहप्रियता, संकीर्णता, मत-मतांतरों के पारस्परिक वैमनस्य, प्रेमहीनता—हमारे इन्हीं दोषों ने भारत-माता को घायल किया है। तुम कहते हो कि हमें एक हो जाना चाहिए, यह ठीक है। किंतु स्मरण रक्खो, हम सेवा और सत्कर्म द्वारा ही ऐक्यता के पथ को पा सकेंगे, शब्दाडंबर व तर्क-वितर्कों द्वारा नहीं।

आजकल की उत्साहहीनता और निराशा में हम अपने एक मुख्य कर्तव्य को भूल गए हैं। इसका श्रीगणेश ग्रामों से

होना चाहिए, क्योंकि ९५ प्रतिशत से अधिक भारतवासी वहीं रहते हैं। भारत ग्रामीण देश है। ग्रामवासी ही सच्चा भारतवासी है।

हमें उस राष्ट्रीयता की आवश्यकता है, जो नगर-प्रेम से सीमाबद्ध न हो। इतना ही नहीं, हमें आवश्यकता है राष्ट्रीयता से भी अधिक उदार भावना की—मनुष्य-मात्र के प्रति प्रेम की, दीन-जनों के प्रति बंधुभाव की। मेरे विचार में स्वराज्य का अर्थ अनुदार-राष्ट्रीयता नहीं, समष्टिगत स्वार्थ-परता नहीं और न द्वेष और कलह का मत ही है। स्वराज्य का अर्थ है दरिद्रों और ग़रीबों की सेवा। इस सेवा के बिना स्वाधीनता के युद्ध में हमारी विजय निरर्थक है।

संकीर्ण राष्ट्रीयता और शिल्प-वाणिज्य यही वर्तमान संसार में युद्धों को उत्पन्न और उत्तेजित करनेवाली शक्तियाँ हैं। शिल्प-वाणिज्य का अनिवार्य परिणाम होता है पूँजीवाद। संकीर्ण राष्ट्रीयता समष्टिगत अहंकार का दूसरा नाम है और वह सहज ही में अनजान व विदेशी के प्रति द्वेषभाव का रूप धारण कर लेती है। दोनों भीषण कलह और प्रचंड विग्रह को उपजाती हैं।

कई लोगों का मत है कि बोलशेविज़्म (रूसी राज्य-क्रांति के सिद्धांत) भारत का उद्धार कर सकेगा। परंतु भारत को

आवश्यकता है बोलशेविज़्म से कहीं अधिक उदार और उच्च क्रांति की। तथापि बोलशेविज़्म का यह सारगर्भित सिद्धांत कि "जनसमूह का उद्धार करना चाहिए" माननीय है। "रूसी राज्य-क्रांति की स्मृतियाँ"-नामक पुस्तक में एक अँगरेज़ी-लेखक कहता है—

"सोवियट (रूसी सरकार का नाम) सरकार का भगीरथ-प्रयत्न मास्कोवा प्रांत के पूर्व में रहनेवाली लाखों पांसुवर्णांग और पीतांग जातियों के हृदयों में अपने भविष्य को सुखमय बनाने की गाढ़ाभिलाषा को उत्पन्न कर रहा है।"

भारत में किसान और मज़दूर की दुस्सह दुर्दशा है। यदि राष्ट्रीय आंदोलन द्वारा शांति और अहिंसा से भारत का उद्धार करना है, तो हमें किसानों और मज़दूरों की अवस्था को सुधारने के लिये विशेष प्रयत्न करना पड़ेगा। बोलशेविज़्म की नीति का अवलंबन करने से समाज के भिन्न-भिन्न भागों में पारस्परिक युद्ध छिड़ जाने का भय है। इसे दूर करने के लिये हमें जनता में सदाचार आदि पवित्र भावों का प्रचार करना चाहिए। राष्ट्रीय आंदोलन का ध्येय शुद्धि-करण हो। स्वराज्य के हेतु जनसमूह से घनिष्ठता होना परमावश्यक है। "मैत्री" ही आनेवाले युग का संकेत है।

ग्राम ही स्वराज्य का सच्चा आधार है। सभ्यता का

विकास जड़ से हुआ करता है। सभ्यता की जनतारूपी जड़ें जितनी कमज़ोर होती हैं, उतनी ही जल्दी उसका पतन हो जाता है। जनसमूह ही वास्तव मेंराष्ट्रीय है, उसकी समृद्धि अथवा देश की उन्नति व अवनति है। मेरी कल्पना है कि भारतीय स्वराज्य छोटे-छोटे स्वायत्त कृषक-राज्यों का संयुक्त-राज्य ही होगा। स्वतंत्र भारत में बड़े-बड़े नगरों की नहीं, प्रत्युत छोटे-छोटे क़स्बों और ग्रामों की प्रधानता होगी, और इन्हीं के हितों पर विशेष ध्यान दिया जायगा। इन्हीं ग्रामों को चूस-चूसकर नगरों के ऐश्वर्य की रचना होती है। किसान का माता वसुंधरा से संसर्ग रहता है। जो जाति व सभ्यता इस संबंध से अलग हो जाती है, वह निश्चय ही अपने पतन-पथ पर दौड़ने लगती है। ईश्वर के न्यायालय में ब्रिटिश-साम्राज्य हमारे ग्रामीण जीवन के सर्वनाश और जनता के दुःख-दारिद्र्य के अपराध में अभियुक्त है। आर्थिक लूट और जातिय आधिपत्य (अन्य जातियों पर शासन करने की लालसा) यही इस सम्राज्य के उपनाम हैं। ब्रिटिश-साम्राज्य की नीति को देखकर रोमन-साम्राज्य का स्मरण हो आता है, जिसके संबंध में किसी योग्य इतिहासकार ने कहा है कि उसने अपने अंतर्गत प्रांतरूपी नारंगी का सारा रस चूस डाला, और वहाँ की प्रजा के लिये छिलका-भर बाक़ी रहने दिया था।

निस्सत्वता और दरिद्रता ही भारतीय जीवन के अत्यंत करुणाजनक और शोचनीय दृश्य हैं। जब लोगों की कार्य-कारिणी उत्तेजना को स्थान नहीं दिया जाता, तब निस्सत्वता का होना अनिवार्य है। जब शासकवर्ग लूट की नीति का अवलंबन करे, तब शासित देश में दरिद्रता की भीषणता अनिवार्य है। निर्बल जातियों के प्रति ब्रिटिश-साम्राज्य की सदा से यही नीति रही है। हिंदू-युग न केवल विद्या और कला में, प्रत्युत भौतिक उन्नति में भी महत् था। जो यह कहते हैं कि अँगरेज़ी राज्य से भारत की समृद्धि हुई है, उन्हें उचित है कि वे हिंदू-युग के इतिहास का सावधानी से अध्ययन करें और उसकी यथार्थ उन्नत दशा को समझें। नेपाल-कॉलेज के प्रोफ़ेसर दास ने हाल ही में प्रकाशित अपनी "प्राचीन भारत का आर्थिक इतिहास"-नामक पुस्तक में घटना और अंक आदि का लेखा देखकर सप्रमाण सिद्ध किया कि मौर्यकाल में (३२१-१८४ ई० पू०) भारत अँगरेज़ों के राज्य-काल की अपेक्षा कहीं अधिक समृद्धिशाली था। योरपीय इतिहासकार और समालोचक बहुधा इस सत्य को भूल जाते हैं कि हिंदू-काल में भारत आजकल की अपेक्षा कहीं अधिक प्रतापी और ऐश्वर्यशाली था, और इसी कारण हिंदुओं ने भारतीय द्वीप-समुदाय के सुदरवर्ती द्वीपों तक में अपने उपनिवेश बनाए थे।

किंतु आज ! भारत के समान दीन और दुखी कौन है ? फिर भी भारत के समान संभाव्य शक्ति किस में है ? यहाँ के जंगलों में बहुत अधिक उपज होती है। पैदावार के स्वाभाविक ज़रिए भी यहाँ बेहिसाब हैं। इतना होते हुए भी हम दिन-प्रति-दिन घोरातिघोर दरिद्रता की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इसका कारण यह है कि अँगरेज़ों की कुटिल स्वार्थी नीति साम्राज्य के हितों के लिये भारत के हितों की आहुति दे देती है। अँगरेज़ी राज्य का गुणगान करनेवाले नगरों की उन्नति और समृद्धि की प्रशंसा के पुल बाँध देते हैं। किंतु इस देश में कितने नगर हैं ? ग्रामों की अवस्था कैसी है ? इस संबंध में उन्हें क्या कहना है ? देश के ९५ फ़ी सदी मनुष्य ग्रामों में रहते हैं। दुस्सह दारिद्र्य, प्राणघातक गंदगी और भयंकर अविद्या में भारत के ग्रामवासी अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यही भारत की दुःख-गाथा है। सरकार तथा नागरिकता को राष्ट्रीयता समझनेवाले हमारे राजनीतिज्ञ इन ग्रामवासियों की उन्नति के लिये तनिक भी प्रयत्न नहीं करते।

कुछ दिन हुए सिंध में हॉलैंड-देश से एक यात्री आया था। नववयस्क होते हुए भी उसे संसार का अच्छा अनुभव था। उसने दूर-दूर देशों का पर्यटन किया था। रूस, फ़ारस आदि देशों मे वह घूमा। पश्चिमी सभ्यता का भी उसे कुछ अंशों

में अच्छा ज्ञान था। उसने कहा—"मैंने सुना था। कि भारत एक सरल और आध्यात्मिक सभ्यता की जन्मभूमि है। ऐसी सभ्यता को देखने की मेरे हृदय में उत्कट अभिलाषा थी। इसीलिये मैं इस देश में आया। मैंने यहाँ के जीवन को देखा, किंतु अनेक अंशों में मुझे निराश होना पड़ा।" इस डच-यात्री ने इस देश में स्त्रियों को परदे में सड़ते हुए देखा, इससे उसे बहुत कष्ट हुआ। उसने देखा कि शिक्षकगण बालकों को बुरी तरह पीट रहे हैं, इससे भी उसे खिन्नता हुई; किंतु उसके हृदय पर सबसे गहरा आघात इस देश की सर्वव्यापी दरिद्रता का ही पहुँची, और इसके लिये उसने अत्यंत कटु शब्दों में सरकार की निंदा की।

मि० लुप्टन-जैसा अँगरेज-विद्वान् नौकरशाही को इस वास्ते साधुवाद देता है कि "उसने भारतवासियों की आर्थिक अवस्था को इतना उन्नत नहीं किया कि उसकी संसार के अन्य बड़े-बड़े देशों से तुलना की जा सके।"

यह दारिद्र्य उस दंड का अंशरूप है, जो हमें उस साम्राज्य के अंतर्गत रहने के कारण भोगना पड़ता है, जो वास्तव में शिल्प-वाणिज्य की कोठी है। इँगलिस्थान का प्रमुख पत्र "संडेटाइम्स" प्रश्न करता है कि "भारत हमारे लिये क्या है?" और आगे चलकर स्वयं इसका उत्तर देता है कि "भारत

हमारी सबसे बहुमूल्य पूँजी है। हम साधारणतः भारत से दो अरब रुपए का व्यापार करते हैं। गत वर्ष हमने १ अरब ३५ करोड़ रुपयों का सामान भारत को भेजा था। यह अन्य देशों के साथ किए गए हमारे निर्यात व्यापार की अपेक्षा कहीं अधिक है। संसार का कोई भी देश हमारा इतना अधिक माल नहीं ख़रीदता।" इँगलिस्थान का यही व्यापारिक आक्रमण हमारे देश को दिन-प्रति-दिन दरिद्रातिदरिद्र बनाता जा रहा है। राजनीति-विज्ञान-विशारद सिलास्की ने ठीक ही लिखा है कि "सरकार को ऐसा सुसंगठित होना चाहिए कि जिससे जनता यथासंभव सामाजिक उन्नति कर सके।" किंतु इस अभागे देश पर तो विदेशी नौकरशाही का शासन है और उसके संगठन का उद्देश्य आर्थिक लूट ही है।

निम्न-लिखित बातों से हमारी दुःख-गाथा आप-ही-आप प्रकट होती है। पिछली शताब्दि में (१९वीं) ब्रिटिश-भारत में ३६ दुर्भिक्ष पड़े, जिनके कारण ३ करोड़ मनुष्य काल-कवलित हुए। १९१८-१९ में जो इन्फ्लुएंजा फैला था, उससे भारत में ६० लाख मनुष्य मरे; किंतु बाक़ी संसार में इसी बीमारी से केवल १२ लाख ही मरे। इस देश में २ करोड़ के लगभग मनुष्य केवल एक बार ही भोजन पाते हैं। ५ करोड़ के लगभग भारतवासी तो इतना तक नहीं जानते कि दिन में एक बार भी

भर-पेट भोजन किसे कहते हैं। अँगरेजों की औसत आयु ४६ से ५६ वर्ष के बीच में है, किंतु भारतवासियों की उससे आधी; अर्थात् केवल २३ वर्ष ही है। ग्रामीण मनुष्य प्रायः कृशगात्र होते हैं। उनमें से अधिकांश तो माँड और नमक पर ही जीवन निर्वाह करते हैं।

ग्रामीण जीवन के इस अधःपतन को रोकने के लिये हम क्या चेष्टा कर रहे हैं ? इसके लिये नूतन सामाजिक प्रज्ञा की आवश्यकता है, जो इस समस्या को समझे और हल करे।

ग्रामों में नवजीवन का संचार करो, उससे नगरों की दासता दूर हो जायगी। उससे गृहधंधों का फिर से आविर्भाव होगा और हम यह भली भाँति समझ सकेंगे कि भोग-विलास के न रहते हुए भी देश किस प्रकार सुखी हो सकता है, और किस प्रकार जनता को ऐसा काम मिल सकता है कि जिससे उसे विनोद तथा जीवन-निर्वाह दोनों के साधन प्राप्त हों। इस अर्थ में हम हस्त-कौशल को विनोदात्मक धंधा भी कह सकते हैं।

लोग कह सकते हैं कि विना शिल्प-वाणिज्य के देश क्षमता-शाली राष्ट्र नहीं बन सकता। कदाचित् यह युक्ति ठीक भी हो। किंतु मैं स्वराज्य का अर्थ क्षमता से नहीं लगाता। मैं स्वराज्य को मानव-मात्र के सुख, सदाचार तथा संस्कृति-संबंधी महत्त्वों की दृष्टि से देखता हूँ। मेरी धारणा है कि देश को अपनी नियति

सार्थक करने के लिये भौतिक क्षमता की आवश्यकता नहीं है। हॉलैंड एक छोटा-सा राज्य है, उसकी शक्ति बहुत कम है, फिर भी वह सुखी है और बड़े-बड़े राष्ट्र उसके अनुग्रह की याचना करते हैं। अनियंत्रित भौतिक क्षमता पर यंत्रों का शासन जम जाता है, जो आत्मा के विकास को दबा देता है। संभव है, छोटे-छोटे क़स्बों और ग्रामों का संयुक्त-राज्य बनकर भारत में पशुबल न हो, किंतु वह सुखी अवश्य होगा, और उसे आत्म-सिद्धि के वे साधन प्राप्त हो सकेंगे, जो एक बड़े साम्राज्य के अंत-र्गत होते हुए आज उसे सर्वथा दुर्लभ हैं। मार्क्स (सभ्य-वाद के जन्मदाता) की कल्पना में शिल्पकारों का राज्य ही आदर्श राज्य है। परंतु मेरा विचार है कि स्वतंत्र भारतीय राज्य मुख्यतः कृपकवर्ग का ही राज्य होगा।

मेरी धारणा है कि यदि भारत को शिल्प-वाणिज्य की उन्नति करना है, तो उसे पहले अपनी कृषि-संबंधी संपत्ति की वृद्धि करना आवश्यक है।

सबसे निकृष्ट दासता दीनजन की दासता है। उसे हम कैसे दूर करें? इसमें उपजाऊ भूमि का प्रश्न उठता है। स्वराज्य के प्रबंध में भूमि का पुनः वितरण करना अनिवार्य होगा। क्या जमींदार महाजन लोग आत्मोत्सर्ग के महान् सत्कार्य द्वारा दीन किसान को उसकी भूमि का वह भाग वापस

कर देंगे, जिससे कि वह उस सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था में चिरकाल तक वंचित रहा है, जिसका अस्तित्व समता पर नहीं बरन् पशुबल पर निर्भर है। मेरा निवेदन है कि किसानों को भूमि दो और साथ-ही-साथ उन्हें कृषि-शास्त्र के वैज्ञानिक तत्त्वों तथा सहकारिता-संगठन की शिक्षा भी दो। जो बात आज ज़मींदार महाजन नहीं कर रहे हैं, उसे स्वतंत्र भारत को करना ही पड़ेगा; क्योंकि इसी से हमारी अत्यंत कठिन समस्या—पेट का प्रश्न—हल हो सकेगी, अन्यथा नहीं। यदि सरकार ने इसमें विलंब किया, तो परिणाम यह होगा कि एक प्रचंड आंदोलन उठकर सरकार और जनता दोनों को भीषण अराजकता और गृह-युद्ध की ओर बहा ले जायगा; क्योंकि भूख ही विप्लव की जननी है।

गृह-धंधों का प्रचार होना चाहिए, उनसे दीन-ग़रीबों को आर्थिक सहायता मिलेगी। भारत अपना कच्चा माल विलायत को भेजकर और उसके बदले वहाँ का बना हुआ भोग-विलास का सामान लेकर आत्महत्या कर रहा है। विदेशी चीज़ों का इस देश में आना हमारे राष्ट्रीय अभ्युदय के लिये घातक है। हम अपने ही धन से अँगरेज़ी पूँजीवाद की सत्ता को दृढ़ कर रहे हैं। इससे हमारा देश अकिंचन् बन भूखों मर रहा है। भोग-विलास की हर एक सामग्री दरिद्रता को बढ़ाती है। हम

अँगरेज़ों से कपड़े और भोग-विलास का सामान लेते और उसके बदले उन्हें अन्न और कपास देते हैं। इसका फल यह होता है कि इस रत्नगर्भा भूमि में रहते हुए भी हम अन्न और वस्त्र तक के लिये तरस रहे हैं। हम मर रहे हैं केवल अपनी मूर्खता के कारण ही। गृह-धंधों का ह्रास ही भारत की दरिद्रता का प्रधान कारण है। योरप के शिल्प-वाणिज्य ने इनका पूरा सत्यानाश कर दिया है। भारत के शिक्षित लोगों में से अधिकांश अभी तक यह भी नहीं जानते कि विदेश का बना हुआ दिखाऊ ख़ूबसूरत माल भारत को कितनी हानि पहुँचा रहा है। अब्बे डुबोय-नामक फ़रासीसी विद्वान् ने उन दीन किसानों की करुण दशा का वर्णन किया है, जिनके गृह-धंधों को योरप के शिल्प-वाणिज्य ने समूल नष्ट कर दिया था। आप लिखते हैं—

"योरप लौटने के पहले मैं उन ज़िलों में (जहाँ के गृह-धंधे नष्ट कर दिए गए थे) भ्रमण करता रहा। वहाँ पर जो बरबादी फैली हुई थी, उसका वर्णन करना असंभव है। सारा काम बंद था, और जुलाहा-जाति के लाखों मनुष्य भूखों मर रहे थे। मैंने ऐसी अगणित विधवाओं को देखा, जो पहले सूत कातकर जीवन-निर्वाह करती थीं, किंतु अब हाथ-पर-हाथ धरे बैठी थीं; क्योंकि उनके पास कोई काम नहीं था।

उनके जीवन का आधार चर्खा उनसे छीन लिया गया था, अतः वे पूर्णतया निराश्रय और अकिंचन् हो गई थीं। जहाँ-जहाँ मैं गया, सब कहीं मैंने ऐसा ही मर्मस्पर्शी दृश्य देखा। बेचारे हिंदू आज कितनी शोचनीय अवस्था में पड़े हुए हैं। इतना ही नहीं, उनकी दशा दिन-दिन बिगड़ रही है। हाय! शिल्प-वाणिज्य की वृद्धि करनेवाले यंत्रों के आविष्कर्ता यदि इन दीन-ग़रीब हिंदुओं की निरंतर अभिशाप को सुन सकते! यदि वे मेरे समान इस भयानक दुःख और दारिद्र्य को देख सकते, जिसने उनकी यंत्राविष्कार की प्रतिभा के बल पर संपूर्ण प्रांतों को ग्रस लिया है! यदि वे इस करुण दृश्य को देखते और यदि उनमें तनिक भी दया होती; तो वे अपने विनाशकारी आविष्कारों की वृद्धि पर आज पश्चात्ताप कर आँसू बहाते कि उनके कारण ही मुट्ठी-भर मनुष्य लाखों ग़रीबों का धन चूस-चूसकर संपत्तिशाली बन रहे हैं, और उन सताए गए ग़रीबों को अपने प्रतिकारियों का नाम तक घृणित हो गया है, क्योंकि वे जानते हैं कि यही हमारी दुर्दशा के प्रधान कारण हैं।"

खादी को मैं लक्षण-रूप मानता हूँ। वह पुकार है ग्रामों के पुनः संगठन की, ग्रामीण उद्योग-धंधों को पुनः प्रारंभ करने की। खादी का संदेश है सरल जीवन। इसके बिना उस

परिष्कृत, अहिंसात्मक और मानववादी सभ्यता की आशा निराशा-मात्र है, जिसके संबंध में वैदिक सामगान कहता है—

"तुम सबको प्रेम-दृष्टि से देखो।"

चरखा ग्रामवासियों के अवकाश का सदुपयोग कर उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करेगा। किंतु मैं उन यंत्रों के विरुद्ध नहीं हूँ, जो प्राकृतिक सौंदर्य को कलुषित नहीं करते और जिनसे दूषित और अशिष्ट परिस्थितियाँ उत्पन्न नहीं होतीं। उस दिन मैंने सूत कातने के ऐसे यंत्रों का वृत्तांत पढ़ा, जो छोटे-छोटे किसानों के घर पर भी केवल एक मनुष्य द्वारा चलाए जा सकते हैं। ऐसे यंत्र जर्मनी में बनते हैं। वे हिंदुस्थान में भी क्यों न तैयार किए जायँ? चरखे के अतिरिक्त गरीब किसानों को अन्यान्य गृह-धंधों की सहायता भी लेनी चाहिए, जिससे वे कम-से-कम जीवन-निर्वाह के लिये पर्याप्त धन कमा सकें। भारत के आर्थिक पुनरुत्थान के लिये देश-भर में गृह-धंधों के प्रसार की परमावश्यकता है। दूध-दही की शालाएँ खोलना, तरकारी-भाजी का उपजाना आदि लाभदायक उद्योग भी किसानों को सहायता दे सकते हैं।

हमें किसानों की शारीरिक अवस्था को सुधारने के लिये भी चेष्टा करनी चाहिए। किसानों का ह्रास हो रहा है, उनका शरीर क्षीण होता जा रहा है। उन्हें देखने से ऐसा प्रतीत

होता है कि वे भूख के मारे मर रहे हैं। मलेरिया-बुखार और दरिद्रता के कारण उनमें से कितने ही प्रतिवर्ष अकाल-मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं। यदि हम इस भीषण ह्रास को नहीं रोक सकते, तो निश्चय ही हमारी जाति का भविष्य अंधकार-मय है।

जापान, जर्मनी, स्वीडन, डेनमार्क आदि सभी सभ्य देशों की सरकार देहात के रोगों का नाश करने और जन-साधारण की दशा सुधारने के निमित्त धन-व्यय करना अपना पवित्र कर्तव्य मानती हैं। किंतु भारत में सेनारूपी अजगर ही देश की अधिकतर आय को निगल जाता है। बड़े-बड़े अधिकारियों को बेहिसाब वेतन मिलता है, परंतु ग्रामवासियों के सुख और आराम के लिये कुछ भी नहीं किया जाता। उचित संगठन और कार्य-क्रम से हम इसमें बहुत कुछ सफलता प्राप्त कर सकते हैं। पनामा, मेक्सिको आदि देशों में रोग-नाशक प्रयत्न बहुत सफल हुए हैं। प्रतिवर्ष हमारी जन में—अतएव धन में भी—घोर क्षति हो रही है। सरकार तटस्थ बनी उदासीन भाव से सब देख रही है। डाबेंटले ने बंगाल की जनता के स्वास्थ्य-सुधार के लिये १९२२ में एक पुस्तिका प्रकाशित की। उनका आग्रह है कि एक जनता-आरोग्य-विधायक-क़ानून बनाया जाय। इस

क़ानून के अनुसार स्वास्थ्यकर नियमों का शासन सर्वत्र एक समान और अनिवार्य रूप से होना चाहिए, जिससे कोई भी स्थान ऐसा न रह जाय, जहाँ कि आरोग्यता-विभाग के कर्मचारी नियुक्त न हों। इन कर्मचारियों पर उस स्थान के स्वास्थ्य का उत्तरदायित्व रहना चाहिए। वास्तव में यह सराहनीय और बुद्धिपूर्ण सलाह है।

पंचायतों, सेवा-समितियों और कांग्रेस-सभाओं द्वारा ग्रामों के स्वास्थ्य-सुधार के लिये बहुत कुछ प्रबंध किया जा सकता है।

ग्रामों में पाठशालाओं की बहुत आवश्यकता है। एक समय था, जब हमारे देश-भर में, ग्राम-ग्राम में, पाठशालाएँ थीं। इन ग्रामीण पाठशालाओं का भी, पंचायतों के समान, ब्रिटिश-शासन के प्रादुर्भाव ने सर्वनाश कर दिया। ब्रिटिश-कर्मचारियों ने निर्दयता से ग्रामीण जीवन को तहस-नहस कर डाला। इसका परिणाम यह हुआ कि आज ग्रामों में भयंकर अविद्या फैली हुई है। किसानों की जीविका और विद्योपार्जन के साधनों को नष्ट कर आज नौकरशाही उन्हें अविद्या और दरिद्रता के अंधकार में सड़ा रही है। इस विषय पर किसी विद्वान् की यह सम्मति है—

"वह धन, जो किसानों के पसीने से (सरकार को) प्राप्त होता है, कृषकवर्ग की उन्नति के हेतु में कदापि नहीं लगाया

जाता, प्रत्युत सरकारी कर्मचारियों को अधिकाधिक वेतन देने अथवा विदेशियों के आर्थिक कष्टों को दूर करने के लिये बाहर भेजने में ही काम आता है।"

जिन महान शक्तियों की मुद्रा आधुनिक जीवन पर पड़ रही है, उनसे हमारे किसान भाई पूर्णतया अनभिज्ञ हैं। जिस संस्कृति और आदर्श की कर्ममय उपासना ने पुरातन काल में भारत को महत् बनाया था, उनका किसानों को लेश-मात्र भी ज्ञान नहीं है। प्राचीन समय में परिव्राजकाचार्य होते थे, जो घूम-घूमकर ग्रामों में उपदेश और व्याख्यान दिया करते थे। आज फिर हमें ऐसे ही उपदेशकों की आवश्यकता है। स्वीडन और डेनमार्क योरप के प्रमुख सुशिक्षित राष्ट्र हैं, और दोनों ही उपर्युक्त शिक्षा-पद्धति के बहुत आभारी हैं। डेनमार्क में सर्वत्र ग्रामीण पाठशालाएँ फैली हुई हैं। वहाँ के लोग उन्हें "जनता के विद्यालय" कहते हैं। इनमें बालकों को स्वदेश की लोक-कथा सिखलाई जाती है। इस कारण देश-प्रेम के वायु-मंडल में बालकों का परिवर्द्धन होता है। इन पाठशालाओं के अतिरिक्त वहाँ वैज्ञानिक विद्यालय भी हैं, जहाँ कृषि-विद्या, उद्यान-शास्त्र और गृह-कौशल की शिक्षा दी जाती है।

मेरा विश्वास है कि इस देश के किसानों की पुनर्जागृति सन्निकट है, और मैं उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ, जब कि

नूतन शिक्षा उनके हृदय और मस्तिष्क को विकसित कर उनमें भारत-भविष्य के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा का संचार करेगी। ग्रामों में पुस्तकालयों और वाचनालयों की भी आवश्यकता है, जिससे ग्रामवासी भारत का ज्ञान प्राप्त कर सकें और उस भारतीय आलोक के दर्शन पावें, जिसे अपने को ईसाई कहनेवाले बर्बर साम्राज्यवाद ने निर्दयता से पद-दलित कर दिया है।

संसार के सब भागों में अब जन-साधारण अपने गौरव और महत्त्व को समझने लगे हैं। हम जनता की प्रधानता के युग में रह रहे हैं। भारत के ग्रामवासियों पर भय और भूख ने आक्रमण किया है। फिर भी उसके अंतःकरण के अंतरतम प्रदेश में निगूढ़, (मुक्ति के दिवस का स्वप्न) अब तक विद्यमान है।

भारत को महिलाओं, दीन-ग़रीबों तथा अछूत-निर्वासितों की पुनर्जागृति से ही उस शक्ति की सिद्धि होगी, जो सभ्यता का उद्धार कर हमें मुक्ति की ओर ले जावेगी। क्यों कि—

दीनों के हृदय-मंदिर में भगवान् शयन कर रहे हैं, और जब कोटि-कोटि भारतवासियों के अंतःकरण में वे जाग्रत् होंगे, तब पशुबल का अंगभंग और समूल नाश होगा, और भारत को मुक्ति मिलेगी।

मानव-जाति के सैनिक

मेरे अंतःकरण में उस भारत का स्वप्न है, जिसका उद्धार दीन-ग़रीबों की शक्ति से हुआ हो।

जब यह स्वप्न मुझे हठात् अभिभूत कर देता है, तब मेरा हृदय बार-बार चिल्ला उठता है कि "अब हमारे नवयुवक क्यों विलंब कर रहे हैं?"

इस गुरुतर कार्य के लिये दस-पाँच व सौ-दो सौ की नहीं, वरन् सहस्रों स्वयंसेवकों की आवश्यकता है, जो किसानों और तिरस्कृत अथवा अछूत जातियों की सेवा का भार ग्रहण करेंगे।

ऐसे स्वयंसेवक मनुष्य-जाति के सच्चे सैनिक, मानव-वाद के सच्चे उपासक होंगे।

इन्हीं का रक्त प्रतापशाली भविष्य भारत का बीज-रूप होगा।

हमारी राष्ट्रीय समस्या का मूल-रूप मनोवैज्ञानिक तथा सदाचार-विषयक ही है। हमें नूतन मानसिक संगठन और नवीन सदाचार का निर्माण करना पड़ेगा।

नूतन मानसिक संगठन—इससे दास-वृत्तियों का निराकरण होगा, और हम बुद्धि-स्वातंत्र्य के महत्त्व को समझ सकेंगे। यह हमें विनयशील बनावेगा। "हम सबका विकास सत्य

को सिद्धि के हेतु ही हो रहा है।" जब हम इस सिद्धांत को स्वीकार करेंगे, तब मत-मतांतरों के नाम पर हम एक दूसरे को बहिष्कृत नहीं करेंगे, प्रत्युत सब एक साथ भारतवर्ष और मनुष्य-जाति की सेवा में दत्तचित्त हो जावेंगे।

मत-मतांतर? विविध पंथ? कार्य-क्रम? इनका निरंकुश अनुदार विधान करने से वह जीवन कुंठित होता है, जिसकी सेवा करना हमारा ध्येय है। राजनीति में भी तारतम्य है, अतएव उसका कोई भी कार्य-क्रम पूर्ण रूप से उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता। इस तारतम्य के गुणों का विवेचन करने से हममें एक दूसरे के प्रति नम्रता और साहचर्य के भाव उदय होने लगेंगे। 'मत', 'पंथ' और 'कार्य-क्रम' के नाम पर जो अहंकार फैला हुआ है, उसे दूर कर, तब संसारव्यापी उदार ऐक्यभाव हमारे अंतःकरण में प्रविष्ट होगा। निरी सहनशीलता से काम नहीं चल सकता, क्योंकि बहुधा उसका अर्थ आध्यात्मिक उदासीनता ही होता है। इसी कर्महीन सहनशीलता के कारण विशाल रोमन-साम्राज्य का पतन हो गया। शिक्षित समाज की उदासीनता और जन-साधारण की आध्यात्मिक व्यग्रता यही भारत की दुर्गति के कारण हैं। इसी से हिंदू-मुसलमानों के झगड़े होते हैं। मानव-वाद में पगी हुई सुमति से हमें यह सीखना चाहिए कि किस भाँति आपस में हम सब बंधुभाव

से रहें, और उस स्वराज्य की सिद्धि का प्रयत्न करें, जिसका एक अर्थ "बुद्धिवाद का साम्राज्य" होगा।

नवीन सदाचार—इसका गुण है दीनों के प्रति प्रेम। गुरु नानक का एक सुंदर पद इस प्रकार है—"मैं नीचातिनीच जाति के साथ ही रहूँगा। मुझे बड़े लोगों से क्या पाना है? ईश्वर की कृपा-दृष्टि उन्हीं पर होती है, जो दीन और पतित की सेवा करते हैं।" स्वराज्य-आंदोलन को जन-साधारण के संसर्ग से शक्ति-संपन्न होना चाहिए। अतएव तरुण भारत से मेरा आग्रह है कि स्थान-स्थान पर आश्रमों की स्थापना की जाय। इन आश्रमों में प्राचीन आदर्शों तथा वर्तमान परिस्थिति के अनुकूल उनके प्रयोगों की शिक्षा दी जाना चाहिए। आश्रम के कार्यकर्ता वे ही मनुष्य हों जो आडंबरहीन रचनात्मक कार्य को उन आवेश-पूर्ण भाषणों और वाद-विवादों से श्रेष्ठ-तर समझते हों जिनका उत्साह मिथ्या और क्षणस्थायी होता है। स्वराज्य की सृष्टि नीरवता में होगी। अनेक नवयुवक समझते हैं कि जनता के सामने एक लंबा-चौड़ा व्याख्यान दे देने ही से स्वराज्य के प्रति उनका कर्तव्य समाप्त हो जाता है। किसी जापानी राजनीतिज्ञ से पूछा गया कि "भारत का आप पर क्या असर पड़ा?" उन्होंने उत्तर में कहा—"भारतवासी बकवाद करना बहुत जानते हैं।" देशभक्ति को बक-बक

द्वारा प्रकट करने से माता की सच्ची सेवा नहीं हो सकती। राष्ट्र के कितने ही सर्वश्रेष्ठ सेवक मौनभाव से कार्य में संलग्न रहते हैं। जब जहाज़ चलता है, तब तुम समझते हो कि समुद्र की ऊपरी विशाल लहरें ही उसका संचालन करती हैं। तुम भूल जाते हो कि समुद्र के भीतर भी धारा-प्रवाह होता है, जिसे तुम देख नहीं पाते। इसी प्रकार देश के शांत पाखंडहीन सेवकों के भी दर्शन बहुधा दुर्लभ होते हैं।

मनोविकार (Emotion) अच्छी वृत्ति है; क्योंकि उससे जीवन संपन्न होता है। भाव-प्रवनता बुरी वृत्ति है; क्योंकि उससे इच्छा-शक्ति शिथिल हो जाती है। निरी भावना स्वाधीनता के पथ को कदापि सुगम नहीं बना सकती। कभी-कभी तो युद्ध को अटल दृढ़ता के साथ जारी रखने के लिये वीर सैनिक को अपने बाह्य भावों और गतियों का निरोध तक करना पड़ता है। गत योरपीय महासमर में मित्र राष्ट्रों के प्रधान सेनापति मारशल फोच का पुत्र मारा गया। लोगों ने यह संवाद मारशल फोच को सुनाया और उन्हें अनेक प्रकार से सांत्वना देने लगे। परंतु मारशल फोच अविचल भाव से खड़े रहे और बोले—"अभी मैं कुछ नहीं सुनना चाहता, यह आश्वासन आप लोग युद्ध के पश्चात् ही दीजिएगा।" भारत माता के सेवकों को दृढ़ और सबल होना चाहिए, निरी भावना से काम नहीं चलेगा।

अनेक नवयुवक ऐसे हैं, जो—अकारण नहीं—अहिंसा के मत को नहीं सह सकते। उनका कहना है कि अहिंसा राजनीतिक अस्त्र नहीं है और उसके द्वारा हम ऐहिक (सांसारिक) स्वराज्य नहीं पा सकते। अपने इस कथन को पुष्टि के लिये वे कमालपाशा * मुसोलिनी † और लेनिन ‡ की विजयों का उल्लेख करते हैं। मैं मानता हूँ कि इन विप्लववादी नवयुवकों के मत में कई विचारणीय बातें हैं। जिसे हम "हिंसा" कहते हैं उसे वे बलिदान मानते हैं। साथ-ही-साथ यह भी निर्विवाद है कि बिना किसी प्रकार की शक्ति के कोई भी देश स्वतंत्र नहीं हो सकता। पशुबल भी शक्ति का एक रूप है। किंतु यह रूप सर्वश्रेष्ठ नहीं है, और यह भारत की उचित सहायता नहीं कर सकता। नूतन सभ्यता का निर्माण भ्रातृभाव के अतिरिक्त अन्य किसी आधार पर नहीं हो सकेगा। आधुनिक व्यवस्था में भी संगठित पशुबल की—निरी हिंसा की नहीं—विजय हुई है यद्यपि वे सब क्षणभंगुर थीं। क्या आज हमारे देश

---

* वर्तमान टर्की का त्राता।

† इटली का सबसे बड़ा प्रधान मंत्री और फ़ैसिस्ट दल का प्रसिद्ध नेता।

‡ बोल्शेविज़्म का प्रधान आचार्य और रूसी राज्यक्रांति का प्रमुख नेता।

में एक भी ऐसा राजनीतिज्ञ है, जो हिंसा के युद्ध का नेतृत्व ग्रहण कर विजय की आशा कर सके ? इस बात को योरप तक में लोग मानने लग गए हैं कि "मुक्ति-साधन का उचित उपाय पशुबल नहीं है।" हिंसा भारत को और भी अधिक गहन अराजकता और उपद्रव में फँसा देगी। भारत को आशा है कर्मयोग के नूतन आदर्शवाद से, योरप की हिंसक और भौतिक रीतियों से नहीं।

उद्वेग और दुर्वचन की सस्ती रीतियाँ हमें और भी अधिक निस्सत्त्व बना देंगी। जापान को संसार का प्रमुख राष्ट्र किसने बनाया है ? उसके पाखंडहीन कर्मवीरों के प्रयत्नों ने, उसके बच्चों की नियम-पालकता और देशभक्ति ने, उनके अपने भविष्य में अटल विश्वास ने, देश की बलिवेदी पर उनके अद्वितीय आत्मोत्सर्ग ने। जब योरपवासियों में रचनात्मक गुणों का विकास हुआ, तब ही योरप महत्ता के शिखर पर आसीन हो सका था। आज वहाँ व्यग्रता और अराजकता फैल रही है; क्योंकि द्वेष और हिंसा के मद ने उसे अभिभूत कर दिया है।

"द्वेष और हिंसा के बिना स्वातंत्र्य-सिद्धि" यही संदेश हमें ग्रामवासियों को सुनाना चाहिए। धर्म और देशभक्ति के नाम पर जो कलह मची हुई है, उसका हमें सर्वथा परित्याग कर

देना चाहिए। संसार को आवश्यकता है भ्रातृभावमय सभ्यता की। भारत को इससे श्रेष्ठतर और कौन-सा सौभाग्य प्राप्त हो सकता है कि वह इस सभ्यता के निर्माण में सहायता देवे। भारत के ऋषि-मुनियों ने द्वेष और हिंसा का उपदेश कदापि नहीं दिया। उनका संदेश था—विश्वव्यापी भ्रातृभाव। हम लोग, जो कि भारत को स्वतंत्र करना चाहते हैं, उसकी समस्या का निरूपण संसार की समस्या से पृथक् नहीं कर सकते; क्योंकि वास्तव में वह समस्या एकता—भिन्न-भिन्न जातियों और धर्मों में बंधुत्व और मैत्री स्थापित करने—की समस्या है। भारत को स्वतंत्रता का मार्ग निश्चित करते समय संसार की महान् आवश्यकताओं का भी ध्यान रखना चाहिए। अर्वाचीन संसार के मस्तिष्क और अंतःकरण की परीक्षा करो और तुम देखोगे कि उनमें किसी गंभीर आध्यात्मिक तत्त्व की, किसी संयोगिनी शक्ति की, किसी व्याधिनाशक और विषमता-निवारण आदर्श की सोत्कंठ अभिलाषा विद्यमान है।

जब मैं द्वेष और कलह की इस निरंतर बढ़ती हुई गति पर विचार करता हूँ, तब मेरे हृदय में दुस्सह वेदना होती है। मेरी आत्मा की प्रार्थना है कि भारत के नवयुवक उन उन्नत आदर्शों के प्रकाश में ग्रामों का पुनः संगठन करने में दत्तचित्त हो जायँ, जिनका युग-युग में भारत साक्षी रहा है। हमारी

प्राचीन संस्कृति ने मनुष्य-मात्र को दिव्य माना है और पुरुषार्थ को आत्मा की दिव्यता प्रकट करने का साधन समझा है। सिखों के ग्रंथ में एक शिक्षाप्रद कथा है। किसी सिख ने मुसलमानों को अपने हाथ से पानी पिला दिया। कुछ लोगों ने इस पर बड़ी आपत्ति की और उस सिख को गुरु के पास ले गए, ताकि वह अपने आचरण को समझावे। उस सिख ने जो उत्तर गुरु को दिया, वह संक्षिप्त और सुंदर था। उसने कहा—"मैं सब किसी को जल पिलाता हूँ।" गुरु ने उसे प्रेम से गले लगा लिया और हृदय से आशीर्वाद दिया।

नवयुवकों से मेरा नम्र निवेदन है कि मनुष्य-मात्र की एकता तथा जीवन की नित्यता पर दृढ़ विश्वास रक्खो। विश्वास रक्खो कि त्याग की अग्नि-शिखा में अपनी आहुति दे देने ही से मुक्ति है।

आश्रमों का कार्य मुख्यतर देहातों में इन ५ बातों का प्रचार होगा—

१. शिक्षा

२. सफ़ाई और औषधि-वितरण

३. स्वदेशी

४. अखाड़े

५. किसान-सहकारी-सभाएँ

जापान में एक कृषक-संघ है, जिसकी सदस्य-संख्या ३०,००० है।

आश्रमवासी नवयुवकों को निम्न-लिखित प्रतिज्ञाएँ करनी पड़ेंगी—

१. मेरा उद्देश्य त्याग होगा, न कि स्वार्थपरता।

२. मैं सरल जीवन व्यतीत करूँगा।

३. अपनी पाशविक वृत्तियों का निग्रह करना मेरा धर्म होगा।

४. जो लोग देश की सेवा करना चाहते हैं, उनसे मैं सहयोग करूँगा। मतभेद और राजनीतिक विचारों का असामंजस्य उनसे ऐक्य स्थापित करने में मुझे बाधा न पहुँचा सकेंगे।

५. मुझे भारत-शक्ति के नेतृत्व में अटल विश्वास है।

यह शक्ति दुर्जय है; क्योंकि यह प्राचीन माता की शक्ति है। हमें उन प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियों को समझना चाहिए, जो भारत में और इँगलिस्तान में स्वराज्य का घोर विरोध कर रही हैं। तथापि हमारा यह अखंड विश्वास होना चाहिए कि भारतमाता की शक्ति इन सब विरोधिनी शक्तियों से कहीं अधिक प्रबल है। न्याय और सत्य हमारे साथ हैं, और संसार व्यापी शक्तियाँ हमारी सहायता कर रही हैं। हम पर ऋषियों की कृपा-दृष्टि है। बहुत लोग इस कारण निराश हैं कि हमें

(कांग्रेस के वचनानुसार) ३१ दिसंबर, १९२१ तक स्वराज्य नहीं मिल सका। मैं नम्रता से कहता हूँ कि कांग्रेस के इस निर्णय पर कि "एक साल में स्वराज्य मिलेगा" मुझे कभी विश्वास नहीं हुआ। मैंने उसी समय चेतावनी दी थी कि यह विचार भ्रम-मात्र है। जब ऐसी प्रबल नौकरशाही से युद्ध छिड़ा हुआ है, तब हमें मौक़ा देखकर ही प्रहार करना उचित है, उसके लिये आँखें बंद कर हम पहले से ही दिन ठीक नहीं कर सकते। प्रहार का समय और अवसर निश्चित करने के पहले हमें नियमित रूप से तैयारी करने की आवश्यकता अनिवार्य है। मेरा विचार है कि बहुत अंशों में वर्तमान नैराश्य और हतोत्साह का कारण मानसिक प्रतिक्रिया ही है। इसीलिये देश को आज शक्ति-संदेश की जरूरत है; क्योंकि सबल पुरुष ही आत्मबलिदान कर सकता है। जो निर्बल है, वह मृत्यु से भी अधम जीवन की ममता में फँसा रहता है। कुछ वर्ष पूर्व चीन के ५०० युवक एकत्रित हुए और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि यदि आवश्यकता पड़ेगी, तो हम रोगियों की प्राण-रक्षा के लिये अपने शरीर का रक्त तक दान कर देंगे। इन स्वयंसेवकों के संकल्प का संवाद चारों ओर फैल गया। पेकिन-नगर की अस्पताल से टेलिफ़ोन द्वारा ख़बर आई कि दो स्वयंसेवकों की आवश्यकता है, जो तत्काल आकर अपने शरीर का नीरोग

रक्त एक स्त्री और बालक की नसों में संचार करने के हेतु प्रदान करें, जिससे उनकी प्राण-रक्षा हो सके, अन्यथा उनकी मृत्यु अनिवार्य है। तत्क्षण दो युवक स्वयंसेवक साइकिलों पर बैठकर शीघ्र वहाँ पहुँचे और उन्होंने उन रोगियों को बचाने के लिये सहर्ष अपना रक्त दे दिया। ये ५०० चीनी स्वयंसेवक मानव-जाति के सैनिक हैं। भारत को इनके समान सहस्रों वीरों की आवश्यकता है।

आज अनेक मनुष्य स्वाधीनता को अतिदूर समझते हैं। मैं राजनीतिज्ञ नहीं हूँ, फिर भी अपने हृदय के दर्पण में मैं स्वाधीनता को आते हुए देख रहा हूँ। हाँ, निश्चय ही वह आ रही है भारत की आकांक्षा को पूरा करने के लिये, इस प्राचीन देश की यातना को दूर करने के हेतु, वह आ रही है। क्या हम उचित रूप से उसका स्वागत कर सकेंगे ? यदि हाँ, तो फिर हमें शक्ति का—आंतरिक शक्ति का, ऐक्यभाव की शक्ति का, दीनों और दलितों के बंधुत्व की शक्ति का, त्याग से उद्भूत शक्ति का—विकास करना चाहिए। भेदभाव और वैमनस्य के इन कठिन दिनों में कितने ही देश-भक्तों की आशाएँ भग्न और मृतप्राय पड़ी हैं। किंतु मैं हताश व संत्रस्त नहीं हूँ। स्वाधीनता के युद्ध का मूल-मंत्र है दृढ़निष्ठा, आत्मविश्वास, भारतमाता में श्रद्धा, संसार-शक्तियों में विश्वास और

विश्व के कर्ता-धर्ता, संसार के दिव्य शासक, परमात्मा में अविचल भक्ति।

प्राचीन शक्ति-संदेश को आज फिर से दुहराना चाहिए। उस संदेश का तत्त्व श्रीकृष्ण ने अर्जुन को प्रकट किया था। उसी की आज हिंदू-जाति और भारतदेश को आवश्यकता है—

"मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा ;
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धस्व विगतज्वरः।"

"हे अर्जुन ! सब कर्मों को मुझे अर्पित कर, परमात्मा में मन लगा, निष्काम भाव से मोह और निर्बलता को छोड़कर युद्ध के लिये प्रस्तुत हो जाओ।"

मेरी बात पर विश्वास रक्खो ! हम तब तक परास्त नहीं हैं, जब तक कि हममें विजय की दृढ़ इच्छा है; क्योंकि हम अपनी पराजय से भी मुक्ति-प्राप्ति के साधन प्रस्तुत कर सकते हैं। विश्वास रक्खो ! जब तक हम इस भावना को लेकर कर्म कर रहे हैं कि पतित और बहिष्कृत की सेवा का छोटा-से-छोटा कार्य भी अनंत भगवान् कृष्ण को हमारी श्रद्धांजलि है, तबतक हम पराजित नहीं हैं। हे नवयुवको ! विश्वास रक्खो ! हम तब तक विजित नहीं हैं, जब तक कि हमारे अंतःकरण में इस प्राचीन वैदिक स्तुति की पवित्र ज्योति जगमगा रही है—

हे जन्म-भूमि ! ग्रामों और वन-प्रदेशों में, जन-साधारण की सभा-मंडलियों में, सर्वत्र हे मातृभूमि ! हम तेरे बलमय और तेजमय पराक्रमों का, सदैव, गुण-गान करेंगे !

स्वतंत्रता की आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को मुक्त और शिक्षित करना ही शिक्षा का धर्म होना चाहिए। हमारी दुर्दशा का बहुत-सा अंश कुशिक्षा का ही फल है। उसने विद्यार्थियों के मस्तिष्क को झूठे विचारों और सत्त्वहीन सिद्धांतों से भर दिया। राजनीतिक स्वार्थों के लिये शिक्षा का दुरुपयोग किया जा रहा है। अँगरेज़ लोग अपने मतलब की बातें फैलाने में बड़े सिद्धहस्त हैं। इँगलैंड तक में इतिहास राजनीतिक पक्षपात की दृष्टि से पढ़ाया जाता है। भारत में चिरकाल से इतिहास की शिक्षा का दुर्व्यवहार श्वेतांग जातियों के साम्राज्यवाद के स्वार्थ के लिये किया जाता है। इससे विद्यार्थियों के अपरिपक्व मस्तिष्क पर यह असर जम जाता है कि भारतवासी स्वभावतः अँगरेज़ों से निकृष्ट और हीन हैं। प्राचीन इतिहास या तो भुला दिया जाता है या बिगाड़ दिया जाता है। अर्वाचीन युग के इतिहास में हमें यह झूठा पाठ पढ़ाया जाता है कि अँगरेज़ लोग सदैव भारतवासियों से श्रेष्ठ रहे हैं। इतिहास को ऐसी संकीर्ण अनुदार-मति से पढ़ाने से भारतीय विद्यार्थियों की नैतिक स्फूर्ति क्षीण हो जाती है। अपने इतिहास और उसके वीरों

की प्रेरणा के विना कोई भी राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। अनेक अंशों में यही प्रेरणा राष्ट्र की समष्टिगत चेतनता का निर्माण करती है। इँगलिस्तान के विद्यालयों में भी इतिहास की शिक्षा देते समय अनुन्नत स्वार्थी मति से काम लिया जाता है। वहाँ योरप के अन्य राष्ट्रों की बुराई कर इँगलैंड की महत्ता दिखलाई जाती है। एक अँगरेज़ समालोचक ने भी इस अधम नीति की निंदा की है, जिससे यह सिद्ध किया जाता है कि इँगलैंड सदैव न्याय-पथ पर चलता है, सदैव शैतान की आकृति-हीन और अबोधनीय शक्तियों से युद्ध करता रहता है, जो कभी फ्रांस, कभी स्पेन और कभी जर्मनी का रूप धारण कर लेती हैं। केवल यही दर्शाया जाता है कि ये अँगरेज़ों के शत्रु हैं, इन्हें राक्षस समझकर मार डालना ही उचित है। इस सत्य पर ध्यान नहीं दिया जाता कि ये भी हमारे भाई हैं, जो कि सुख-साधन के लिये हमारे साथ झगड़ रहे हैं। शिक्षा की इसी अधम नीति ने भारतीय विद्यार्थियों को विशेष हानि पहुँचाई है। अतः नूतन शिक्षा की आवश्यकता है।

जो देश हाल ही में स्वाधीनता प्राप्त कर चुके अथवा अभी कर रहे हैं, उनके इतिहास को देखने से पता चलता है कि राष्ट्रीय शिक्षा का राष्ट्रीय जीवन से कितना घनिष्ठ संबंध है। टर्की को देखो! कमालपाशा को अनाटोलिया के किसानों

का सहारा है। इस विख्यात तुर्क देश-भक्त और उसकी की कवित्री हालुम के प्रयत्न से बालक-बालिकाओं के लिये नए-नए विद्यालय खोले गए। ये पाठशालाएँ इस भावना से प्रेरित थीं कि "खुदा के प्रेम के लिये और नूतन टर्की की भक्ति के लिये" शिक्षा प्राप्त करो। इस स्फूर्ति को लेकर अनाटोलिया के किसान कमालपाशा के नेतृत्व में लड़े और विजयी हुए। ईजिप्ट पर दृष्टि डालो। जगलुल पाशा (मृत्यु १९२७) ईजिप्ट का एक सर्वश्रेष्ठ भक्त था। वह सुशिक्षित और धनवान् था। शिक्षा की शक्ति और उपयोगिता पर उसे अखंड विश्वास था। एक उपयुक्त महाविद्यालय को बनाने में उन्होंने बहुत-सा धन खर्च किया। वहाँ विद्यार्थियों को एक पाठ यह पढ़ाया जाता था कि मातृभूमि ईजिप्ट को प्रेम और भक्ति की दृष्टि से देखो। चीन को लीजिए। वहाँ "शिक्षा-सभाओं और देश-भक्त विद्यार्थियों के परिषदों" ने राष्ट्रीय जीवन को सबल और सचेत बनाने में बहुत सहायता दी है। रूस में भी बोलशेविक लोगों ने शिक्षा के महत्त्व को समझा है। पुस्तिकाओं के वितरण से ग्रामीण-विद्यालयों द्वारा और "मार्ग-विश्वविद्यालयों" के द्वारा वे बालकों को सारगर्भित शब्दों में इस संदेश का उपदेश देते हैं कि "भोजन के लिये पर्याप्त अन्न नहीं सही, हम किसी के दास तो नहीं हैं।"

समष्टिगत राष्ट्रीय आदर्श का प्रचार विद्यालयों और महाविद्यालयों द्वारा श्रेष्ठ रूप से होता है। वहाँ भावना के वातावरण में विचरण करते हुए नवयुवकों के मन और हृदय से काम लेना पड़ता है। यौवन भावग्राही है। उस पर उपदेश का असर जल्दी पड़ता है। हम भारतीय विद्यार्थियों के सम्मुख कौन-से आदर्श उपस्थित करते हैं? हम उनके सामने कैसा चित्र खींचते हैं? हमारे अधिकतर विद्यार्थियों का लक्ष्य है नौकरी, सांसारिक सफलता, आराम और धन-प्राप्ति। किंतु हमें उनके सामने भारतमाता का चित्र उपस्थित करना चाहिए। यह दुःख और शोक का चित्र है। आज भारत दीन है। उसमें भौतिक दरिद्रता है, मानसिक दुर्बलता है, और—मुझे कहने दो—उसमें आध्यात्मिक शक्ति का भी अभाव है। शताब्दियों से उसकी आत्मा निद्राग्रस्त है, तथापि शोक के अंतरदेश में भी हमें नूतन आशा के दर्शन हो सकते हैं; क्योंकि माता की आत्मा मरी नहीं है, वह केवल निद्रित है। आज आत्मा पुनः प्रवेश कर रही है, माता की शक्ति सचेतन हो रही है। भारत-भर में प्रत्येक विद्यालय और महाविद्यालय इसी एक तत्त्व का प्रचार करे—"भारत-शक्ति, भारत-शक्ति, संकीर्ण राष्ट्रीयता नहीं।"

मिगूच-नामक विद्वान् ने योरपीय इतिहास के गत ३० वर्षों

का निदर्शन कराते हुए लिखा है कि "महासमर की ज्वाला में योरप की व्यवस्था नष्ट हो गई।" आपने बतलाया है कि जर्मनी की दुर्दशा कृत्रिम साधनों से उत्तेजित राष्ट्रीयता के कारण ही हुई। जर्मन-लेखकों और अध्यापकों ने १८९४ से १९१४ तक उस शासन-पिपासु राजनीति का उपदेश दिया, जिसका आधार अहंकार से परिपूर्ण राष्ट्रीयता थी। उन्होंने कहा—फ्रांस और इँगलैंड पतनशील है, अतः जर्मनी संसार का नेता होगा। अहंकार और द्वेष के कृत्रिम आवेग से उत्तेजित राष्ट्रीयता विनाशकारिणी शक्तियों को मुक्त कर देती है। मदोन्मत्त और संकीर्ण विचार भारत की सहायता नहीं कर सकते। स्वाधीनता कृत्रिम उत्तेजना द्वारा प्राप्त नहीं होती। स्वतंत्रता की उत्पत्ति है महत्ता से। रचनात्मक प्रयत्न से, त्याग के कर्म से ही भारत को महत्ता प्राप्त करनी चाहिए। तभी वह राष्ट्रों की पंक्ति में उन्नत-मस्तक होकर खड़ा हो सकेगा।

शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए राष्ट्रीय और मानवीय का एकीकरण। प्रजासत्तात्मक राष्ट्रीयता की, जिसका अर्थ होना चाहिए दोनों की सेवा—सिद्धि विना, राष्ट्रीयता से परे मनुष्यता के आलोक के नहीं हो सकती। तुम कहते हो, हम अन्य राष्ट्रों से प्रीति नहीं कर सकते। फिर भी तुम्हें उनसे द्वेष नहीं करना चाहिए। द्वेष-प्रधान राष्ट्रवाद और अनुन्नत

सांप्रदायिकता को दूर करना आवश्यक है। राष्ट्रों के प्रति भ्रातृभाव एक उत्कृष्ट आदर्श है। इस आदर्श को मनुष्य-मात्र से मैत्री के आदर्श से और भी संपन्न होना चाहिए। अतएव हमारे विद्यालयों और महाविद्यालयों में भारत और संसार के इतिहास की शिक्षा आवश्यक है। वर्तमान साम्राज्यवाद अनुदारमत और संकीर्ण सांप्रदायिकता की अहंकारपूर्ण प्रवृत्तियों को यह शिक्षा सुधार सकेगी।

यदि हम उचित रीति से संसार का इतिहास पढ़ेंगे, तब हमें पता लगेगा कि चाहे किसी का देश, धर्म, रंग और जाति कुछ भी हो, पूर्व और पश्चिम के मनुष्य प्रधानतः और तत्त्वतः एक ही हैं, सब एक ही मानव-बंधन में संबद्ध हैं। पश्चिमीय साम्राज्यवाद का आधार-भूत यही है कि ईसाई-जाति अन्य जातियों से श्रेष्ठ है। यह विचार तत्त्वतः अनैतिहासिक है। विभिन्नता का कारण परिस्थितियाँ होती हैं। संसार के इतिहास का एक लक्ष्य है—मनुष्य-मात्र का बंधुत्व। यदि विद्यालयों और महाविद्यालयों में इस सत्य पर ज़ोर दिया जाय, तो साम्राज्यवाद, अनुन्नत राष्ट्रवाद और आततायी सांप्रदायिकता धीरे-धीरे दूर हो जायगी। मनुष्य-जाति के जीवन में अपने देश का स्थान और मूल्य समझना ही सच्ची देश-भक्ति है—है—अहमिति और शासन-पिपासा नहीं।

पश्चिम में द्वेषप्रधान राष्ट्रवाद हिंसा और युद्ध-ज्वर को उपजाते हैं। इसीलिये फ्रांस जर्मनी से शत्रुता रखता है। एक अँगरेज-समालोचक कहता है—"जातियों के हृदय में तीव्र कटुता और कठोरता भरी है। दया, प्रेम और क्षमा वहाँ नाम-मात्र को नहीं है। वहाँ भी तीव्र विद्वेष तथा विकार का मद है या विषादपूर्ण उत्साहहीनता है।" पश्चिमीय योरप के संबंध में वह कहता है—"उनमें पारस्परिक द्वेष और भय है। उनको क्षण-क्षण समय काटने की पड़ी है। कल जो हो चुका है उसकी भीषणता, कल जो होनेवाला है उसका भय, उन्हें सदा सताते रहते हैं। मालूम होता है कि वह द्वेष और भय से मदोन्मत्त एक संसार है, जहाँ आशा का नाम नहीं, जहाँ जीवन और मृत्यु अनिश्चित है, जहाँ ईश्वर और मनुष्य में कुछ विश्वास नहीं है।" उपर्युक्त बातों से भारत अपने पक्ष का समर्थन करे और शिक्षा ले। वह देश-भक्ति और धर्म-प्रेम वास्तव में दीन और निरर्थक है, जो दूसरे देशों व धर्मों के प्रति शत्रुता को उत्तेजित करे। द्वेष-प्रतिहिंसक प्रवृत्ति है। वह धीरे-धीरे द्वेष करनेवाले को द्वेष के पात्र के रूप में परिणत कर देता है। द्वेष लौटकर द्वेष्टा पर आक्रमण करता है। इससे आपसी युद्ध छिड़ जाता है। धर्म, संप्रदाय व देश के नाम पर यदि भारत

द्वेष के मार्ग को अपना ले, तो वह किसी तरह संसार की सहायता नहीं कर सकता। समस्त देशों को आज एकता के नवीन आभास की, समष्टीकरण की, अभिनव भावना की, करुण आवश्यकता है। शेरिडन लिखता है—"जिन-जिन जर्मन और रूसी विद्वानों—तत्त्ववेत्ता और मनोविज्ञान के आचार्यों—से मैं मिला, उनमें से अधिकांश ने मुझसे पक्के विश्वास के साथ कहा कि धर्म-ज्योति के उदय के बिना योरप अंधकार से बाहर नहीं निकल सकता। कोई नेपोलियन वर्तमान संसार के नेतृत्व को ग्रहण नहीं कर सकता।" नेपोलियन युद्ध की प्रवृत्ति का प्रतिनिधि था। आज देशों के त्राण के लिये यह आवश्यक है कि उनके जीवन और विचार में नवीन स्फूर्ति का प्रवेश हो। यह स्फूर्ति है जीवन और मनुष्य के प्रति भक्ति और श्रद्धा का भाव। अपने गौरव के युग में भारत इस भावना का साक्षी रहा है। अपने विद्यालयों और महाविद्यालयों में आज उसे एक बार फिर अवतरित कर भारत उस स्वतंत्रता का पथ-प्रदर्शक बन सकता है, जो मनुष्य की समस्त व्याधियों को दूर करती है।

एक प्राचीन विश्वविद्यालय *

(नालंद)

कुछ समय से हमारा देश पाश्चात्य और भारतीय विचारों और सिद्धांतों का युद्ध-क्षेत्र हो गया है। मैं ऐसे अनेक समालोचकों को जानता हूँ, जो भारतीय और पाश्चात्य संस्कृतियों को न जानते हुए भी सत्य, शिवं, सुंदरं के आदर्शों की अवज्ञा करते, अमूर्त और कल्पना-मात्र कहकर उनका तिरस्कार करते और दर्प से प्राच्य संस्कृति पर पदाघात करते हैं। एक महान् जागृति अभी तक नहीं हुई; किंतु उसका होना अवश्यंभावी है और सर्वप्रथम वह नवयुवकों के हृदय में प्रवेश करेगी। अतएव यह आवश्यक है कि बालक-बालिकाओं का विकास आदर्शवाद के वातावरण में होना चाहिए। वे भारत के प्राचीन युग के महत्त्व को पहचानें और आधुनिक शक्तियों को समझें।

मैं तरुण भारत से उस शिक्षा-प्रयोग के महत्त्व की चर्चा करूँगा, जो ईसा से एक शताब्दि पूर्व भारत में प्रारंभ हुआ था। मेरा अभिप्राय नालंद-विश्वविद्यालय से है, जिसकी

---

* साधु वास्वानी-लिखित "आर्य-आदर्श" से।

स्थापना शक्रादित्य ने की थी। ७०० वर्षों के अनंतर उसकी क्या अवस्था थी, इसका वर्णन प्रसिद्ध चीनी यात्री विद्वान् ह्यूनसंग ❀ के लेखों से मिलता है। भारतीय इतिहास के इस मुहूर्त में, जब कि हमारे विचार राष्ट्रीय पुनःनिर्माण की समस्या पर केंद्रित हैं, हमें यह जानना उचित है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की पूर्णरूप से परीक्षा और काया-पलट करना आवश्यक है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि अपने राष्ट्रीय जीवन के निर्माण के लिये हमें प्राचीन आर्य-संस्कृति के तत्त्वों और आदर्शों की परमावश्यकता है।

मेरी तनिक भी इच्छा नहीं है कि मैं इस देश की आधुनिक शिक्षा-पद्धति की अनुचित और अन्याय आलोचना करूँ। किंतु शिक्षा-पद्धति, शासन-प्रणाली और मत-मतांतरों के संबंध में गुरुदेव (कृष्ण) ने सच ही कहा है कि "उनके फल से ही उनकी उपयोगिता की परीक्षा करो।" हम भी वर्तमान शिक्षा की उसके फल से जाँच करें। उसने हमें क्लर्कों, पाठकों, अध्यापकों, मुख्तियारों, डॉक्टरों, वकीलों को

❀ ये महाराज हर्षवर्धन के राज्य-काल में, ६२९ ई० में, भारत आए। १५ वर्ष के लगभग आप इस देश में रहे और यात्रा तथा विद्याभ्यास में अपने समय को लगाया। आपने तत्कालीन भारत का वृत्तांत लिखा है, जिसे हमारे ऐतिहासिक प्रमाणों में आदरणीय स्थान प्राप्त है।

और थोड़े-से छोटे साहबों तथा न्यायाधीशों को दिया है। इनमें से कितने बिना चापलूसी के, बिना ईश्वरदत्त स्वाभिमान और स्वातंत्र्य के भावों को तिलांजलि दिए, उन्नति कर सके हैं ? इनमें से कितनों ने देश के ज्ञान, साहित्य, कला, विज्ञान, शिल्प तथा संगठन में सहायता दी है ? क्या आधुनिक शिक्षा हमारी नैतिक चेतनता को जाग्रत् और सतेज बना सकी है ? क्या उससे हमारी जीविका का प्रश्न हल हो सका है ? उसने विद्यार्थियों के शारीरिक बल को बढ़ाया है या उन्हें अशक्त कर दिया है ? उसने हमें अपने प्रांत व देश के या इँगलैंड, स्कॉटलैंड और वेल्स के इतिहास और भूगोल की शिक्षा अधिक दी है ? उसने हमारे सामाजिक जीवन को सुखद बनाया है या उसे विकृत कर दिया है ? बंगाल के शिक्षा-विभाग के अधिष्ठाता (Director of Public Instruction) ने कुछ वर्ष पहले कहा था—

"हाईस्कूलों के पाठकों को पर्याप्त वेतन नहीं मिलता। वे असंतुष्ट रहते हैं। कक्षा के कमरे अँधेरे और सँकरे होते हैं, उनमें स्वच्छ हवा नहीं आती। वहाँ सदैव रटने की प्रथा से काम लिया जाता है, यह आत्मा के विकास को रोक देती है।"

उपर्युक्त वर्णन देश के अधिकतर विद्यालयों के लिये भी लागू हो सकता है।

भारत के आधुनिक विद्यालयों के वर्णन के अनंतर ह्यून-संग का तत्कालीन नालंद-विश्वविद्यालय का वृत्तांत पढ़ना कितना रुचिकर है ! यह चीनी यात्री विख्यात विद्वान् था। लोक-कथा है कि उसका पूर्वज चीन का सम्राट् था। उसने ७४ भारतीय पुस्तकों का चीनी-भाषा में अनुवाद किया। अपनी यात्रा में उसने उल्लेखनीय साहस और आत्मसंयम का परिचय दिया, विशेष कर उस स्मरणीय कुसमय में जब कि गंगा के जल-डाकुओं ने उसका पीछा किया था। एक तूफ़ान उठा और ह्यूनसंग बच गया। नालंद-विश्वविद्यालय के कुलपति (शिलाभद्र) ने उससे पूछा—"तुम्हें यात्रा में कितने दिन लगे ?" ह्यूनसंग ने उत्तर दिया—"तीन वर्ष" तीन वर्ष तक यह विद्वान् एक स्थान से दूसरे स्थान को उस विद्या की खोज में पार करता रहा, जो उसे जीवन के नियमों—धर्म—का ज्ञान दे सकती थी। उसने शिलाभद्र से कहा—"योग-शास्त्र के सिद्धांतों को सीखने की इच्छा से मैं चीन-देश से चलकर यहाँ आया हूँ।"

निस्संदेह योग—समष्टीकरण, एकीकरण—भारतीय संस्कृति का प्रधान अंग था। स्वयं नालंद-विश्वविद्यालय सामाजिक

जीवन की विविध आवश्यकताओं—आर्थिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक तत्त्वों—का समष्टीकरण और स्वायत्त संग्रह था। चीनी यात्री लिखता है कि विश्वविद्यालय के अंतर्गत एक कृषि-गृह भी था। उसके वृत्तांत के अन्य स्थल में हम पढ़ते हैं कि विश्वविद्यालय का निर्वाह लगभग १०० ग्रामों की आय से होता था। नालंद एक स्वावलंबी उपनिवेश था, जो कृषि तथा अन्य शिल्पों की उन्नति में सहायता देता था। आजकल शिक्षा को दो भागों में विभाजित किया जाता है—व्यवसायात्मक और सार्व-विषयक (Technical and Liberal)। मैं इस भेद को कृत्रिम समझता हूँ। प्रत्येक शिक्षा को सार्व-विषयक और व्यवसायात्मक दोनों ही होना चाहिए। शिक्षा का धर्म है कि ज्ञान को जीवन से संबद्ध करे। हमारे इस प्राकृतिक और सामाजिक संसार में जो आदर्श तत्त्व और उपयोगिता हैं, इनका ज्ञान हमें शिक्षा द्वारा मिलना चाहिए।

नालंद-विश्वविद्यालय के अध्यापकों और विद्यार्थियों का काम केवल ध्यान और विद्याभ्यास नहीं था, वे शारीरिक परिश्रम भी करते थे। वहाँ आर्थिक सिद्धांतों की अवहेलना नहीं की जाती थी। इस आर्थिक तत्त्व को क्या संसार के अनेक सिद्ध महात्माओं ने पूजनीय और पवित्र नहीं बनाया ? महात्मा ईसा बढ़ई थे। विख्यात ईसाई धर्मगुरु संतपाल

तंबू बनाते थे। कबीर साहब जुलाहा थे। नालंद के अध्यापक भी अपने हाथ से परिश्रम करते और विद्यार्थियों को उसकी शिक्षा देते थे।

यह विश्वविद्यालय आर्थिक केंद्र था और मानसिक भी। यहाँ अध्यापन कार्य के लिये १०० मंच थे। विद्यार्थियों की संख्या १०,००० तक पहुँच गई थी। पाठ्य-विषयों में विज्ञान (Science) भी था। वहाँ बहुत-सी वेधशालाएँ (ग्रह, नक्षत्र आदि के लिये अवलोकनशालाएँ व मानमंदिर (Observatory) भी थी। ह्यूनसंग के वृत्तांत में लिखा है—

"वेधशालाएँ इतनी ऊँची थीं कि प्रायः काली भाफ़ में अदृश्य हो जाती थीं। उनके ऊपरी कमरे मेघों के ऊपर बने हुए मालूम पड़ते थे।"

तर्कशास्त्र, साहित्य, कला, वैद्यक, दर्शन आदि वहाँ के पाठ्य विषय थे। महायान पंथ के बौद्ध-ग्रंथों का अध्ययन बड़ी भक्ति के साथ किया जाता था। "बुद्धदेव की आज्ञा को सप्रेम पालन करते हुए" लगातार ६ बौद्ध-राजाओं ने इस विश्वविद्यालय का निर्माण और संवर्धन किया था। यद्यपि इसके विधायक और निर्माता बौद्ध-धर्मावलंबी थे, तथापि विश्वविद्यालय किसी विशेष मत व संप्रदाय का नहीं था। सांप्रदायिकता मत अथवा पथ से सीमाबद्ध होने से ही संस्कृति

का अंत हो जाता है। सच्ची संस्कृति का उद्देश्य होता है मानव-मात्र का ज्ञान। विश्वविद्यालय का धर्म है विश्वव्यापी भावना को जाग्रत् करना। इसीलिये बौद्धों के धर्म-ग्रंथों के साथ ब्राह्मणों के वेद और शास्त्र भी नालंद में पढ़ाए जाते थे। पाश्चात्य देशों के लिये धार्मिक समन्वय का यह कैसा ऊँचा उदाहरण है? लिखा है कि वहाँ के अध्यापकवर्ग में विदेशी भी थे। सरस्वती अंतर्राष्ट्रीय देवी है। ज्ञान पर किसी जाति का एकांत विशेषाधिकार नहीं है। जातीय आधिपत्य के अनुकूल नालंद-विश्वविद्यालय के वातावरण में कुछ भी नहीं था। योगशास्त्र, आध्यात्मविद्या, चेतन और अर्धचेतन का मनोविज्ञान—इन सबकी शिक्षा वहाँ दी जाती थी। किंतु तुम समस्त लिखित प्रमाणों को छान डालो, तुम्हें उस जातीय अहंकार की मनोवृत्ति के कोई भी तत्त्व वहाँ नहीं मिलेंगे, जिनका जर्मन-विद्यालयों को इतना गर्व है। वहाँ (नालंद में) तुम्हें इस अहमितिपूर्ण राग की ध्वनि कदापि नहीं सुनाई देगी, जिसे अलापकर अँगरेजी विद्यालयों को बड़ा हर्ष होता है कि "ब्रिटेन सदैव राज्य करे, ब्रिटेन का समुद्र तक पर शासन है।" साम्राज्यवाद तथा युद्धवाद की युक्तियों के लिये नालंद की शिक्षा में कोई स्थान नहीं था। कर्म, श्रद्धा, अन्य देशों और जातियों में जो सत् है, उसका अभिनंदन, सत्य की अबाध्य

खोज, ध्यान और मानव-जाति की सेवा, इन्हीं की शिक्षा वहाँ के आचार्य देते थे और यही उनके जीवन के दर्शन में प्रवेश करते थे। कर्म ही धर्म है। हा ! यदि राष्ट्रों को यह विश्वास हो जाता कि धर्म ही विश्व का नियम है ! धर्म धीरे-धीरे भले ही अग्रसर हो; किंतु पूर्व में सूर्योदय के समान उसका आगमन निश्चित है। हर एक राष्ट्र के कर्मों और आकांक्षाओं के भीतर उसका भाग्य और भविष्य छिपा रहता है। नालंद में विद्यार्थियों को उपदेश दिया जाता था कि वे केवल गुरु-जनों का ही नहीं, बरन् अपने से नीच श्रेणी के जीवों का भी, भाई पशु और भाई पक्षी तक का, सम्मान और आदर करें। उन्हें बार-बार यह शिक्षा दी जाती थी कि विदेशी और अनजान के चरणों के पास बैठकर भी उनसे विद्या और कला सीखना चाहिए। उन्होंने यह जान लिया था कि ज्ञान अंतर्राष्ट्रीय है और विद्वान सदैव पूर्ण आदर के पात्र हैं, चाहे उनका देश व धर्म कुछ भी हो।

नालंद-विश्वविद्यालय में ह्यूनसंग का जो सत्कार हुआ, उससे हमें वहाँ के व्यापक आदर-भाव का परिचय मिलता है। ह्यूनसंग विदेशी अवश्य है; किंतु वह विद्वान् है। अतएव विद्वान् के योग्य उसका सम्मान होना चाहिए। विश्वविद्यालय के चार प्रमुख कर्मचारी सात योजन चलकर मार्ग में ही उसका

स्वागत करते हैं। ह्यूनसंग रास्ते के एक गाँव में कुछ समय के लिये ठहर जाता है। वहाँ विश्वविद्यालय के २०० अध्यापक और सहस्रों साधारण सहायक उसे लेने के लिये आते हैं। अभ्यागत के सम्मानार्थ वे पताका, छत्र, पुष्प, सुगंधित द्रव्य आदि लिए हुए हैं। ज्यों ही ह्यूनसंग नालंद में प्रवेश करता है, विश्वविद्यालय के सब लोग उसका स्वागत-सत्कार करते हैं। उससे प्रार्थना की जाती है कि कुलपति के पास विशेष आसन पर विराजिए। तदनंतर सर्वसाधारण को चीनी विद्वान् के आगमन की सूचना देने के लिये और यह घोषित करने के लिये कि वहाँ सुविधा की सब वस्तुओं पर उसका भी समान अधिकार है, घंटा बजाया जाता है। तत्पश्चात् एक उपासक और एक ब्राह्मण हाथी पर बैठाकर ह्यूनसंग को उसके रहने के लिये निश्चित स्थान को ले जाते हैं। कैसा उदार सत्कार है! संस्कृति की अंतर्राष्ट्रीयता का कैसा अद्वितीय अभिनंदन है!!

वहाँ मनुष्य के सौंदर्यात्मक जीवन की अवहेलना नहीं की जाती थी। मेरा दृढ़ विश्वास है कि शिक्षा के लिये सौंदर्यात्मक और आध्यामिक शक्तियाँ अत्यंत उपयोगी हैं। आगे चलकर हम समझ सकेंगे कि नालंद-विश्व विद्यालय की जीवन-चर्या में किस प्रकार सौंदर्य और

सदाचार को समावेश होता और किस भाँति उन्नत और उत्कृष्ट आदर्शों की प्राप्ति के हेतु ये विद्यार्थी-मंडल को स्फूर्ति और आकांक्षाओं के विधायक बनते थे। इस देश की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली ने आततायी बुद्धि को जाग्रत् और ऐश्वर्याकांक्षा को उत्तेजित कर दिया है। बुद्धि की उस दशा से अधिक शोकप्रद और कोई भी दृश्य नहीं हो सकता, जहाँ न तो नैतिक कर्तव्य है और न उन सौंदर्यात्मक प्रवृत्तियों का अस्तित्व है जिनको निःस्वार्थ सेवा के आनंद से ही संतोष मिलता है। अतएव हम इस सत्य पर पहुँचते हैं कि जो भौतिक नहीं वही मार्मिक है, काल्पनिक ही तात्त्विक है और वास्तविक उद्दीपन और रूपांतर करनेवाले सिद्धांत ही आध्यात्मिक हैं। इन्हीं तत्त्वों ने नालंद के जीवन में प्रवेश किया था। यही सिद्धांत आर्यावर्त के आचार्यों के हृदय में विद्यमान थे। क्या वे आचार्य और उपदेश निर्जीव हो गए हैं? क्या कृष्ण, शंकर और बुद्ध के गीत, दर्शन और ज्ञान निस्सत्त्व हो गए हैं? अथवा क्या अब तक भी वे देश के अंतःकरण में सुषुप्त हैं और भारत को पुण्यभूमि, नूतन संसार-संस्कृति की आशा तथा समष्टीकरण की नवीन सभ्यता का विकास-क्षेत्र बनाए हुए हैं? इसका उत्तर उस बंधनयुक्त शिक्षक से मत माँगो, जिसकी "बुद्धि" उसके विद्यार्थियों को मूर्ख

बना देती है। इसका उत्तर माँगो रास्तों में घूमते हुए गाने-वालों से।

मेरी धारणा है कि आर्यावर्त के हृदय में सौंदर्य प्रेम था। भारतीय संस्कृति के वासभवन-आश्रम ऐसे स्थानों में बने हुए थे, जिन्हें मनुष्य और प्रकृति, दोनों ने रमणीक बनाया था। हमारे नगरों की संकीर्ण उद्यानहीन पाठशालाओं में आजकल संस्कृति की हत्या होती है। विद्यार्थियों के सौंदर्यात्मिक जीवन को (आधुनिक शिक्षा-पद्धति) कुचल डालती है। वह कहती है रटो, रटो। वह उन्हें जीवन के आनंद में प्रवेश नहीं करने देती। नालंद-विश्वविद्यालय विस्तृत क्षेत्र के बीच, रमणीयता के वातावरण में, बना हुआ था। ह्वेनसंग ने अपने लेखों में वहाँ की "बहुमूल्य अलंकारों से मंढित मीनारों" तथा "पर्वत-शिखरों के समान आकाशचुंबी बुर्जों" का वर्णन किया है। वह कहता है कि "इनके झरोखों से हर घड़ी वायु और मेघ नए-नए रूप बदलते हुए दिखलाई पड़ते हैं। उनके ऊपर तीक्ष्ण दृष्टिवाला मनुष्य सूर्य और चंद्र के समुच्चय (Conjunction) को भी देख सकता है।" वहाँ "निर्मल जल के गहरे सरोवर" थे, जिनमें नील कमल और रक्त कनकी विकसित होते थे। उन पर आम्र-कुंजों की सघन छाया फैली थी। वह आगे चलकर लिखता है कि "छप्परों पर

ऐसे खपड़े छाए हुए थे, जिन पर पड़कर प्रकाश हज़ारों रंगों में प्रतिबिंबित होता था"। "ये सब वहाँ के दृश्य की शोभा को बढ़ाते हैं।" ऐसे मनोहर दृश्यों से घिरा हुआ नालंद शिक्षक और शिक्षित, दोनों को धन्य बनाता और उनमें सौंदर्य की सिद्धि के निमित्त पूजा और सेवा के भावों को जागृत करता था।

विश्वविद्यालय की भूमि प्राकृतिक दृश्यों तथा बुद्धदेव के जीवन के स्मरणीय स्थलों से परिपूर्ण थी। ह्यूनसंग लिखता है— "वहाँ से एक योजन तक सारा स्थान पवित्र वृक्षों से भरा हुआ है।" यहाँ ह्यूनसंग ८-९ दिन तक रहा और एक-एक करके सब स्थानों पर पूजा अर्पित करता रहा। ऐसे स्थान में गृहांतर जीवन (Outdoor life), प्रकृति से साक्षात् तथा वन-प्रांत के पशुपक्षियों से बंधुभाव स्थापित करने के लिये सभी सुविधाएँ सुलभ थीं। वहाँ शारीरिक, बुद्धि-विषयक एवं सौंदर्यात्मक शक्तियों के उस समन्वय के साधन सुरक्षित थे, जो अखंड शिक्षा के लिये अनिवार्य हैं। आज हम विनोद के द्वारा शिक्षा की बात करते हैं। आज हम खेल-कूद की शिक्षा-संबंधी उपयोगिता की चर्चा करते हैं। जिन बातों का आज हम प्रचार कर रहे हैं, प्राचीन आर्य-विद्यालयों में उनका व्यवहार होता था। हमारे अनेक शिक्षा-संबंधी आविष्कारों में कोई

वास्तविक नूतनता नहीं है। वे हमारे कुछ समस्याओं के उन साधनों की पुनः प्राप्ति-स्थान हैं, जिन्हें हम चिरकाल से खो बैठे थे। भारतीय विद्यार्थियों को तैरना, कुश्ती लड़ना, तीर चलाना, पर्वतों पर चढ़ना आदि सिखलाए जाते थे। अनेक पाठशालाओं में तो अभी हाल तक इनकी शिक्षा जारी रही। मैं बहुधा सोचता हूँ कि आर्यावर्त के आश्रमों में सैनिक भाव विद्यमान था—वह भाव, जो समाज के लिये कष्टों को उठाने और सहने की इच्छा को उत्पन्न करता है। योरपीय दार्शनिक यह सिद्ध करना चाहते हैं कि "प्रतिभा का स्थान उन्माद के बहुत समीप है"। आर्य-विद्वानों का मत था कि "प्रतिभा स्वस्थ चित्तता है, आरोग्यता है"। प्राचीन ग्रंथों में जिसे आध्यात्मिक ज्ञानवाला पुरुष माना है, वह स्वस्थ, नीरोग पुरुष भी है। नालंद के शिक्षक और विद्यार्थी उचित शारीरिक पवित्रता के बिना कदापि विद्याभ्यास अथवा मंदिर-प्रवेश नहीं करते थे। नियम-पूर्वक स्नान, उचित वस्त्र और भोजन, प्राणायाम, समय-समय पर व्रत और उपवास आदि बुद्धि-विषयक और सौंदर्यात्मक जीवन के तत्त्व समझे जाते थे।

नालंद के आचार्यों ने मनुष्य की विविध शक्तियों के समन्वय की उपयोगिता को समझा था। वे तेजस्वी होते थे। जो लोग ह्यूनसंग को कुलपति शिलाभद्र के पास लाने के लिये

भेजे गए थे, उनके संबंध में उसने लिखा है कि "उनके आच रण में ओजस्विता थी"। विद्यार्थी स्वस्थ थे। उनमें शक्ति थी। वे सरल थे। हाल ही में एक पुस्तक प्रकाशित हुई है जिससे कोपिनहेगिन-विश्वविद्यालय की जीवनचर्या का परिचय मिलता है। उसमें लिखा है कि योरपीय महासम से (१९१४) पहले उक्त विश्वविद्यालय में "ग़रीब किं उद्यमी विद्यार्थी" ५० पौंड से साल-भर तक अपना काम चला सकता था; परंतु अब १०० पौंड से कम में उसका निर्वाह नहीं हो सकता। फिर भी डेनमार्क के इस विद्यालय में ऑक्सफ़ोर्ड, केंब्रिज, पेरिस, हारवर्ड, येल आदि विश्व-विद्यालयों की अपेक्षा कहीं कम ख़र्च पड़ता है। यह बात विशेषतया उल्लेखनीय है कि नालंद के विद्यार्थियों का जीवन अत्यंत सरल था। उनको केवल चार आवश्यकताएँ थीं—वस्त्र, भोजन, बिछौना और औषधि। ये वस्तुएँ उन्हें विना मूल्य दी जाती थीं। व्यवसाय की अनुदार मति से विहीन उस युग में शुल्क (फ़ीस) लेने की प्रथा नहीं थी। फल, मेवा, चावल, दूध और मक्खन, यही वहाँ का भोजन था।

नालंद के नियमानुशासन में त्रुटि अथवा दोष पाना कठिन था। ह्यूनसंग के वृत्तांत में लिखा है कि "इस संस्था के

आरंभ से अभी तक ७०० वर्षों में एक भी अवसर ऐसा नहीं आया, जब किसी ने नियमों के उल्लंघन का घोर अपराध किया हो"। क्या हम यह नहीं कह सकते कि इसका कारण यही था कि वहाँ के शासन का आधार धर्म था, न कि दंड अथवा भय? "जर्मन-कल्चर"-नामक पुस्तक में प्रोफ़ेसर ट्रोइलेश ने दंड-द्वारा नियमानुशासन की प्रशंसा की है। इस संबंध में एक अमेरिकन लेखक कहता है—

"जर्मन-विद्यालयों में भय का राज्य रहता है। शिक्षक गण ऊँची आवाज में बोलते और कभी-कभी तो चिल्ला-चिल्लाकर पढ़ाते हैं। वहाँ विद्यार्थियों को तमाचे मारना तो छोटी-सी बात है। बहुधा उन्हें कोड़े भी लगाए जाते हैं।"

ऐसा अनुशासन सैनिकशाला के योग्य है, आश्रम के नहीं। इससे जीवन की स्वतंत्रता नष्ट होती है। प्राचीन आदर्श के अनुसार विद्यार्थी को "बंधनों से मुक्त" रहना चाहिए। नालंद में कोमल भावुकता को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। वहाँ रहनेवालों को संयम और आत्मनिग्रह से बर्तना पड़ता था। उनका जीवन विद्याभ्यास, परिश्रम और कर्तव्य का जीवन था। वहाँ के अनुशासन की प्रेरणा थी आदर्श की सेवा के हेतु मानव-मात्र से बंधुभाव। शिक्षकों में परस्पर मित्रभाव था। विद्यार्थी को "वत्स" कहकर संबोधन

किया जाता था। हिंदू-आश्रमों की भाँति नालंद-विश्वविद्यालय भी एक कुटुंब था। वह वर्तमान नागरिक पाठशालाओं के समान नहीं था, जो बहुधा कारावास ही होती हैं।

नालंद की संस्कृति का ध्येय धन, उपाधि व अलंकार आदि की प्राप्ति नहीं था। पालसन कहता है कि जर्मन-विद्यार्थियों की शिक्षा में उपरोक्त बातों का बहुधा अधिक हिस्सा रहता है। हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारी वर्तमान शिक्षा में भी उनका ऊँचा स्थान है। नालंद-विश्वविद्यालय की शिक्षा का उद्देश्य था सेवा। बौद्ध-धर्म में सेवा की प्रधानता 'ध्यान' से भी अधिक थी। गौतमबुद्ध राजपुत्र थे। उन्होंने अपने राजकीय ऐश्वर्य को तिलांजलि दे दी और मानव-जाति की सेवा में अपना जीवन लगाया। उनके जीवन से प्रेरित होकर बौद्ध लोगों ने भारत के सर्वप्रथम औषधालयों और आश्रय-भवनों की स्थापना की। नालंद-विश्वविद्यालय की समस्त शिक्षा इसी सिद्धांत में पगी थी कि "सेवा ही सर्वश्रेष्ठ गुण है"। बेकन * का उपदेश था "ज्ञान शक्ति है"। प्राच्य ऋषियों की शिक्षा थी कि "ज्ञान सेवा है"। क्या सेवा शक्ति से उच्चतर नहीं है? बुद्ध और बोधिसत्वों से

* प्रसिद्ध अँगरेज़-लेखक और दार्शनिक थे।
(१५६१—१६२६)

साहचर्य का भाव सारे विश्वविद्यालय में व्याप्त था। मानव-जाति के इन महान् सेवकों तथा सौंदर्यात्मक आदर्श के प्रति भक्ति-भाव नालंद-विश्वविद्यालय का लक्षण था। यदि हम आध्यात्मिक तत्त्व को भली भाँति समझें, तब हमें पता लगेगा कि वह सौंदर्यात्मक के प्रतिकूल नहीं है। जो सौंदर्य-युक्त है, वह आध्यात्मिक है। निःस्वार्थ भाव से समाज-सेवा और मनुष्य के अंतःकरण में विराजमान परमात्मा की उपासना—इससे अधिक मनोज्ञ और क्या हो सकता है ?

कर्म और पुनर्जन्म में विश्वास के कारण भी नालंद-विश्वविद्यालय को सेवा की सुंदरता समझने में अधिक सहायता मिली थी; क्योंकि यदि धर्म यथार्थ है, और यदि मृत्यु जीवन का अंत नहीं है, तो जमा करना खोना है, दान करना संचय करना है। इसलिये जो इस जन्म में अपने को दूसरों की सेवा में लगाता है, वह निश्चय ही अगले जन्म में अपने को नवीन शक्तियों से और भी अधिक उपपन्न और समृद्ध पावेगा।

नालंद-विश्वविद्यालय उपरोक्त महान् सत्य का साक्षी था। नालंद के नाम से "अविराम सेवा" का बोध होता था। बौद्धों की एक लोककथा है कि जिस राजा ने पहलेपहल उसकी स्थापना की थी, उसका हृदय दीन और असहाय के प्रति दया से द्रवीभूत हो गया और उसने अपना सर्वस्व उनकी सेवा में लगा

दिया। ऐसे ही उदार सेवा-भाव को लेकर भारतीय आचार्यगण तिब्बत, चीन, श्याम आदि अनेक सुदूर देशों को गए और वहाँ धर्म का प्रचार कर अनाथालयों और रक्षाभवनों की स्थापना की। इसी उच्च मनोवृत्ति के साथ कुछ लोग सिंध भी आए और उसे व्याधिमोचक ज्ञान का विख्यात वासस्थान बनाया। सिंध का पतन कैसे हुआ, यह एक दुःखमय कथा है; किंतु यदि उसे यह इष्ट है कि उसका पुनरुत्थान हो और एक बार फिर भारत में उसे आदरणीय आसन मिले, तब यह आवश्यक है कि उसका जीवन उन महात्माओं की स्फूर्ति से संपन्न हो, जो आधुनिक युग के प्रभाओं को समझते हुए भी अपने पूर्वज आर्यों की संस्कृति तथा प्राचीन आदर्श के महत्त्व का ज्ञान रखते हों। स्वर्गीय सर जान वडेउड 'भारतीय विचार' के सहृदय टीका-कार थे। आप लिखते हैं कि "पाश्चात्य शिक्षा ने भारत-वासियों के अपने साहित्य के प्रति प्रेम को मिटा दिया, उनकी जागृत राष्ट्रीय स्फूर्ति को नष्ट कर दिया और अपने कलाओं से प्राप्य उनके आनंद का नाश कर दिया। वे अपने माता-पिता, भाई, बहनों तथा अपनी स्त्रियों तक से खिन्न और उदासीन हो गए। प्रत्येक कुटुंब में उसने असंतोष फैला दिया"। पाश्चात्य विज्ञान के साथ उद्धार करनेवाली शक्तियों का भी समावेश हुआ है, हम इनका तिरस्कार नहीं कर सकते।

तथापि उनके सुधार और निग्रह के लिये आर्य-संस्कृति के उन महान् आदर्शों की आवश्यकता है, जो नालंद-विश्वविद्यालय तथा प्राचीन आश्रमों के जीवन-विधायक तत्त्व थे। आजकल की शिक्षा-पद्धति से हमें पाश्चात्य संस्कृति तक का यथार्थ और यथेष्ट ज्ञान प्राप्त नहीं होता। हमारे विद्यार्थियों में बहुत कम ऐसे हैं, जिनके पाठ्य ग्रंथ और अध्यापक उनके सामने योरप की सच्ची आत्मा प्रकट कर सकते हों।

हमारे कितने बी० ए० पास विद्यार्थी भारत की पुरातन कथा-कहानियों और गीतों को जानते और उनका महत्त्व समझते हैं? अपनी राष्ट्रीय संस्कृति के सौंदर्य का ज्ञान कितनों को है? हमें आवश्यकता है उस शिक्षा की, जो हमें हमारे पूर्वजों के महत्त्वपूर्ण ज्ञानभंडार का भागी बना सके। पुरातन काल में जिन सुंदर सिद्धांतों से हमारे नेताओं और आचार्यों को प्रेम था, जिनके लिये वे जिए और मरे, उनके अनेक तत्त्वों की अर्वाचीन जीवन को भी आवश्यकता है। इसीलिये मैं नवयुवकों से निवेदन करता हूँ कि वे अपनी राष्ट्रीय संस्कृति पर आधिपत्य जमावें, वे भारत के गीत और कथा, साहित्य और कला, जनश्रुति और आदर्शों पर अपना अधिकार स्थापित करें। ये वही मंदिर हैं, जहाँ जाति की आत्मा अपना स्मरण किया करती है। उनमें अब तक भी एक पवित्र स्फुलिंग विद्यमान है

और भारत के नवयुवकों की बाट जोह रहा है कि वे आवें और भक्तिमय प्रेम की उच्छ्वास से उसे। प्रज्ज्वलित करें, जिससे वह राष्ट्रों के त्राता, परमात्मा के यज्ञ के लिये अग्नि-शिखा का रूप धारण कर सके ।

गंगा-पुस्तकमाला की उत्तमोत्तम, उत्कृष्ट और सचित्र पुस्तकें

अबला (सचित्र) १), १॥)
कर्मफल (सचित्र) १॥), २।)
जब सूर्योदय होगा १), १॥)
जुझार तेजा (सचित्र) ॥), १)
पतन (सचित्र) १॥), २।)
पवित्र पापी (सचित्र) ३), ३॥)
बहता हुआ फूल (सचित्र) २॥), ३)
विदा (सचित्र) २॥), ३)
मा लगभग ३)
रंगभूमि (दो भाग) ५), ६)
विचित्र योगी १), १॥)
विजया (सचित्र) १॥), २)
सीधे पंडित १॥)
संसार-रहस्य अथवा अधःपतन १॥), २)
हृदय की प्यास (सचित्र) १॥), २)
अद्भुत आलाप १), १॥)
अश्रुपात (सचित्र) १।), १॥।)
चित्रशाला (सचित्र) २।), २॥।)
जातक-कथा-माला लगभग १), १॥)
जासूस की डाली १॥), २)
तूलिका (सचित्र) १।), १॥।)
नाट्यकथाऽमृत (सचित्र) १।), १॥।)
नंदन-निकुंज ॥।=), १।=)
प्रेम-गंगा (सचित्र) १।), १॥।)
प्रेम-द्वादशी (सचित्र) १।), १॥।)
प्रेम-प्रसून १=), १॥=)
मंजरी (सचित्र) १।), १॥।)
सौ अजान और एक सुजान १), १॥)
कर्बला (नाटक) १॥), २)
कीचक ,, १।), १॥।)
कृष्णकुमारी (सचित्र) ॥।), १।)
ख़ाँजहाँ (सचित्र) १=), १॥=)
जयद्रथ-वध ॥।=), १।=)
दुर्गावती (सचित्र) १), १॥)

बुद्ध-चरित्र (सचित्र) ॥), १)
वेणी-संहार ॥=), १=)
वरमाला (सचित्र) ॥), १)
पतिव्रता ,, १।=), १॥=)
अचलायतन ॥), १)
पूर्वभारत ॥=), १।=)
ईश्वरीय न्याय ॥)
मूर्ख-मंडली ॥=), १=)
सिस्टर न्यास की कथा २॥), ३)
रायबहादुर ।॥), १)
लवड़धोंधों ।॥=), १।=)
विवाह-विज्ञापन सचित्र) १), १॥)
आत्मार्पण (सचित्र) ।॥), १)
उषा (सचित्र) ॥=), १=)
पराग (सचित्र) ।), १)
पुष्पांजलि लगभग १॥)
पूर्णसंग्रह १॥), २)
भारत-गीत ॥=), १।=)
मानस-मुक्तावली ॥=)
रति-रानी १॥), २)
निबंध-निचय १), १॥)
विश्व-साहित्य १॥), २)
साहित्य-सुमन ॥=), १=)

साहित्य-संदर्भ १॥), २)
संभाषण ।), ॥)
देव और बिहारी १॥), २)
भवभूति ॥=), १=)
हिंदी-नवरत्न (सचित्र) ४॥), ५)
केशवचंद्रसेन १), १॥)
कारनेगी और उनके विचार ॥=)
प्रभु-चरित्र ।॥), १)
प्राचीन पंडित और कवि ।॥=, १।=)
बंकिमचंद्र चटर्जी १), १॥)
सुकवि-संकीर्तन १), १॥)
इँगलैंड का इतिहास सचित्र (तीन भाग) ३॥), ४॥)
जापान का इतिहास ।॥=)
स्पेन का इतिहास ॥=)
भारतीय अर्थशास्त्र (दो भाग) २॥), ३॥)
विदेशी विनिमय १), १॥)
उद्यान (सचित्र) १=), १॥=)
किसानों की कामधेनु (सचित्र) ।=)
कृषिमित्र ।-)
कृषि-विद्या ॥), १)